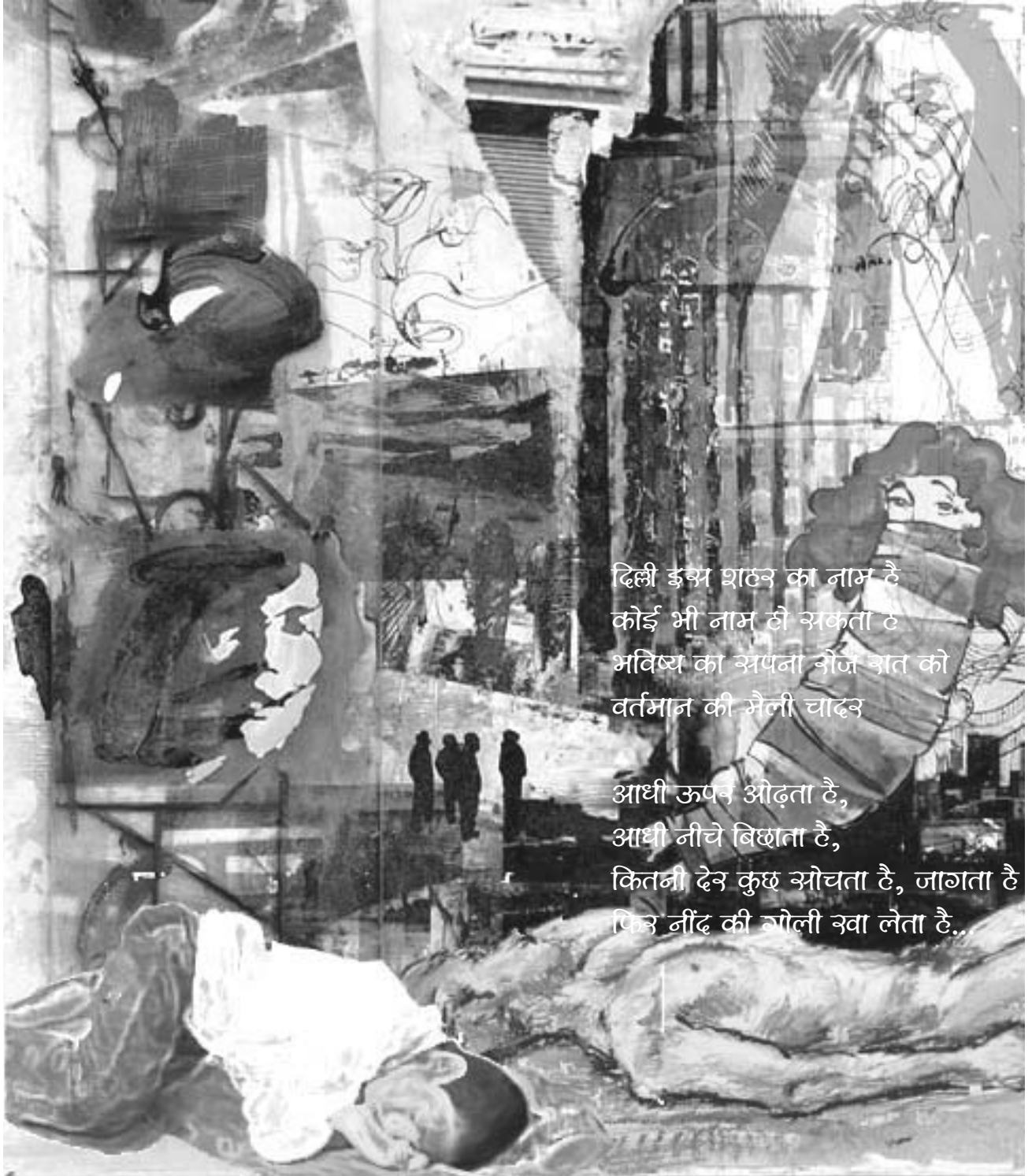


समरथ



मई-जून 2010 ♦ नई दिल्ली



दिल्ली इंसान शहर का नाम है
कोई भी नाम हो सकता है
भविष्य का सपना बीज अत को
वर्तमान की मैली चादर

आधी ऊपर ओढ़ता है,
आधी नीचे बिछाता है,
कितनी देर कुछ ओचता है, जागता है
फिर नींद की बोली उवा लेता है..

नाहि तो जनम नसाई

‘दिल्ली इस शहर का नाम है, कोई भी नाम हो सकता है’, सचमुच नाम में क्या रखा है? क्योंकि केवल हमारा मुल्क नहीं पूरे दक्षिण एशिया के हर शहर की तस्वीर यही है। शहर जागते हैं तबाही फैलाने के लिए, शहर सोते हैं इसलिए कि तबाही पर नजर न जाए। हम सब उसी शहर का हिस्सा हैं। हममें से हर कोई किसी न किसी तरफ खड़ा है या सोने वालों में शामिल है या जागने वालों में। हम आप जैसे जागरूक लोग दरअसल सोने वालों की फेहरिस्त में हैं। हम सोते हैं कि तबाही पर हमारी नजर न जाए। हम जागते तब हैं जब ये तबाही हमारी तरफ बढ़ती है। इसी शहर में एक बड़ा तबका वो भी है जो न जागता है न सोता है। वो जागता इसलिए नहीं कि ना वो किसी को तबाह करने की ताकत रखता है और ना ही उसकी ऐसी मंशा है। और वो सोता इसलिए नहीं कि भूख, बीमारी और सरदी-गरमी-बरसात में खुले आकाश की छत उसे सोने का मौका ही नहीं देती। वो हमारे सरोकार में है लेकिन कागज़ों पर। मंचों से निकलने वाले हमारे शब्दों का चाय के प्याले की चुस्कियों के साथ दोस्तों की महफिल में वो हमारे सरोकार का सबसे बड़ा हिस्सा बन जाता है। और फिर हम सो जाते हैं। अगले दिन फिर अक्षर-अक्षर जोड़कर हम फिर तराशते हैं। और मक्कारी भरी लफ्फाजी में फिर वही चीजें दोहराते हैं जो हम वर्षों से दोहराते आए हैं। सचमुच जो श्मशान में आग लगी है वो जिस्म तो शायद भिखारी का हो लेकिन दरअसल जिसका दम टूटा है वो फलसफा ही है। एक सभ्य नागरिक के जीवन जीने का फलसफा। अपनी जिम्मेदारियों को ईमानदारी से निभाने का फलसफा। पड़ोसी को भूखा न सोने देने का फलसफा। किसी मर्द के आगोश में चीख उठने वाली लड़की की आवाज़ पर बचाव के लिए अपनी परवाह किए बगैर भागने का फलसफा। अब अगर ये फलसफा कहीं मौजूद है तो शहर में नजर आता नहीं। शायद अब ये फलसफा भी शहर की किसी तिजोरी की गोद में बंद हो चुका है और उसकी कुंजी की जरूरत शहर में किसी को नहीं है। हां फलसफे मरते नहीं हैं कैद हो जाते हैं। वो जो श्मशान में जला किसी फलसफे का जिस्म हो सकता है मगर फलसफे की आत्मा कहीं कैद है। उसकी कुंजी तलाश करना और कैद से आजाद कर एक बार फिर शहर में उस फलसफे को जेहनों में बिठा देना हमारी और आपकी सबकी जिम्मेदारी है।

एक शहर

1. एक फसल जो सितारों ने बोयी थी,
किसने इसे चोर गोदाम में डाल लिया
बादल की बोरी को झाड़ कर देखा,
रात की मण्डी में गर्द उड़ रही है...

चाँद एक भूखे बछड़े की तरह
सूखे थनों को चिचोड़ रहा है
धरती-माँ अपने थान पर बँधी
आकाश की चरनी को चाट रही है...



2. अस्पताल के दरवाज़े पर
हक़, सच, ईमान और कद्रें
जाने कितने ही लफ़्ज़ बीमार पड़े हैं,
एक भीड़ सी इकट्ठी हो गयी है
- जाने कोई नुस्खा लिखेगा,
जाने वह नुस्खा लगा जाएगा
लेकिन अभी तो ऐसा लगता है,
इनके दिन पूरे हो गये
3. इस शहर में एक घर
घर कि जहाँ बेघर रहते हैं
जिस दिन कोई मज़दूरी नहीं मिलती
उस दिन वे परेशान होते हैं
- बुढ़ापे की पहली रात
उनके कानों में धीरे से कह गयी
कि शहर में उनकी
भरी जवानी चोरी हो गयी...
4. कल रात बला की सर्दी थी,
आज सुबह सेवा-समिति को
एक लाश सड़क पर पड़ी मिली है,
नाम व पता कुछ भी मालूम नहीं
- श्मशान में आग लग रही है,
लाश पर रोने वाला कोई नहीं
या तो कोई भिखारी मरा होगा,
या शायद कोई फ़लसफ़ा मर गया...
5. किसी मर्द के आगोश में
कोई लड़की चीख़ उठी
जैसे उसके बदन से कुछ टूट गिरा हो
- थाने में एक क़हक़हा बुलन्द हुआ,
क़हवाघर में एक हँसी बिखर गयी
सड़कों पर कुछ हॉकर फिर रहे हैं
एक-एक पैसे में ख़बर बेच रहे हैं,
बचा-खुचा जिस्म फिर से नोच रहे हैं...
6. गुलमोहर के पेड़ों तले,
लोग एक-दूसरे से मिलते हैं
ज़ोर से हँसते हैं, गाते हैं,
एक दूसरे से अपनी-अपनी
मौत की ख़बर छुपाना चाहते हैं...
संगमरमर क़ब्र का तावीज़ है,
हाथों पर उठाये-उठाये फिरते हैं
और अपनी लाश की हिफ़ाज़त कर रहे हैं...
7. मशीनें खड़-खड़ कर रही हैं,
शहर जैसे एक छापाखाना है
इस शहर में एक-एक इन्सान
एक-एक अक्षर की तरह अकेला है
- हर पैग़म्बर एक कम्पोज़ीटर
अक्षर जोड़-जोड़ कर देखता है
अक्षरों में अक्षर बुनता है,
कभी कोई फ़िक़रा नहीं बन पाता...
8. दिल्ली इस शहर का नाम है
कोई भी नाम हो सकता है (नाम में क्या रखा है)
भविष्य का सपना रोज़ रात को
वर्तमान की मैली चादर
- आधी ऊपर ओढ़ता है,
आधी नीचे बिछाता है,
कितनी देर कुछ सोचता है, जागता है
फिर नींद की गोली खा लेता है...

साभार - अमृता प्रीतम : चुनी हुई कविताएँ

बचपन की निर्माण प्रक्रिया

■ कांचा इलया

मैं हिन्दू क्यों नहीं

मैं हिन्दू पैदा नहीं हुआ और इसका सीधा-सा कारण यह है कि मेरे माता-पिता नहीं जानते थे कि वे हिन्दू हैं। इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि मैं एक मुस्लिम, एक ईसाई, एक बौद्ध, एक सिख या एक पारसी पैदा हुआ था। मेरे माता-पिता अनपढ़ थे जो दक्षिण भारत के एक दूर-दराज के गांव में रहते थे। वे नहीं जानते थे कि किसी भी धर्म से उनका संबंध है। किसी भी धर्म को मानने वाले यह जानते हैं कि वे या तो उस धर्म के देवता की पूजा करने वाले समूह का हिस्सा हैं या वे उनके मंदिरों में जाते हैं और उस धर्म की पूजा पद्धतियों और त्यौहारों में हिस्सा लेते हैं। मेरे माता-पिता की एक ही पहचान थी, वह थी उनकी जाति। वे कुरुम्मा थे। उनके तीज-त्यौहार अपने थे, उनके देवी-देवता भी अपने थे और कभी-कभी तो ये इतने स्थानीय होते थे कि एक ही गांव तक सीमित होते थे। उनके लिए धर्म के केन्द्रीय प्रतीकों का कोई अस्तित्व नहीं था। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे आदिवासी थे। मेरे पुरखे पांच सौ वर्ष पूर्व मैदानों में आकर बस गए थे। वे गांव की अर्थ व्यवस्था का अंग थे। ग्राम-पंचायत या राज्य प्रशासन, जिस रूप में भी मांग करता था, वे कर देते थे। जब तक वे गड़ेरिये का धंधा करते थे, पुल्लारा (भेड़-पालन के लिए लेवी) के रूप में कर देते थे। मेरे जन्म से पूर्व वे भेड़-पालन के स्थान पर खेती-बाड़ी करने लगे थे, और स्थानीय ज़मींदार और तहसील कार्यालय को भूमिकर देते थे। मेरे बचपन के दिनों में, मेरे माता-पिता भेड़-पालन और कृषि के लिए भी कर देते थे। लेकिन उन्होंने धर्म-कर कभी नहीं दिया, जिसकी मांग सामान्यतया सभी सामंतवादी धर्म करते हैं। सिर्फ इतना ही नहीं, वे कभी भी उस मंदिर में नहीं गये जहां गांव की सभी जातियों के लोग मिलते थे। दरअसल वहां ऐसा कोई मन्दिर नहीं था, जहां गांव के सभी लोग नियमित रूप से मिल सकें।

इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि मेरा परिवार अकेले ही धार्मिक प्रक्रियाओं से बाहर था या यही अकेला परिवार था जिसकी उपेक्षा या तिरस्कार किया जा सकता था। नहीं, ऐसा नहीं था। दो पीढ़ियों तक मेरे पुरखे जाति प्रमुख थे। मेरी मां और उनकी सास (यानी मेरी दादी) कुरुम्मा जाति के अग्रणी परिवारों की सदस्या थीं। ग्राम-अर्थव्यवस्था में कुरुम्मा, गोला, गौड़ा, कापू, शाला चक्काली, मांगली और मडिग्गा की संख्या बहुमत में थी। समूची ग्राम-अर्थव्यवस्था को अपने दैनंदिन क्रियाकलापों से ये जातियां संचालित करती थीं।

हिन्दुओं और हमारे बीच सांस्कृतिक भिन्नता

अब मुझे यह कहने दें कि मेरे बचपनों के अनुभवों ने किस प्रकार आकार ग्रहण किया। जिस सामाजिक संरचना में, मैं अपने आसपास के संसार के प्रति सचेत हुआ, वह थी कुरुम्मा समाज

संरचना। मेरे बचपन के संगी-साथी, मित्र और निःसंदेह रिश्तेदार भी, सभी कुरुम्मा जाति से थे। कभी-कभी मित्रता का दायरा गौड़ा और कापू लड़कों तक बढ़ जाता था। हम सभी मित्र थे, क्योंकि हम पशु-पालक युवा समूह का हिस्सा थे। हम मवेशियों को खेतों में ले जाते थे, और तब चिरागोन (हमारी क्रिकेट), गुलीलु (एक खेल जो संगमरमर पत्थर की गोलियों से खेला जाता है) और डोंगाट (छुपा-छुपी) जैसे खेल खेलते थे। अचानक जब कोई 'गौड़ा' मित्र हमारे घर आ जाता, वह हमारे साथ खाना खाता, लेकिन थोड़ा हट कर बैठता था। जब हम कभी किसी 'कापू' के घर जाते तो उनके माता-पिता हमें खाना खिलाते, लेकिन थोड़ा हट कर बैठते। खाना खाते समय एक दूसरे को स्पर्श नहीं कर सकते थे। लेकिन बाद में, हम एक साथ खेल सकते थे और नदियों, झरनों से पानी पी सकते थे। यदि हम दोपहर का खाना लेकर गये हैं, तो हम एक दूसरे के खाने को छूने का प्रयास करते थे। लेकिन मां-बाप के बताए कानून अचानक सामने आ जाते। हम एक दूसरे की जाति को अपमानित करने की भाषा बोलने लगते और खाने के लिए पूर्व अवस्था में पहुंच जाते और अलग-अलग बैठकर खाने लगते। लेकिन कुछ पलों के बाद हम मेल-जोल भी कर लेते।

कृषि गांव का सामूहिक क्रिया-कलाप है, गायें, भैंस और बैल संयुक्त रूप से अनेक जातियों की संपत्ति होते थे। शायद वही एक आधार था जिस पर गांव की अर्थ-व्यवस्था मिल जाती थी। इस प्रकार जब हम पशुओं के साथ होते थे, चरागाहों पर सामाजिक जीवन एक अंतर्जातीय कार्य होता था। लेकिन जैसे जैसे हम बड़े हुए, यह एक समान जीवन और मिलीजुली चेतना उत्पादन संबंधों के आधार पर विभाजित होती गई। मैं और मेरे कुरुम्मा मित्रों को एक साथ पशुपालन गतिविधियों से हटा लिया गया और भेड़पालन में प्रशिक्षित किया गया। यह कुरुम्माओं और गोलाओं का विशिष्ट पेशा था। इसी समय मेरे गौड़ा साथियों को ताड़ी निकालने और कापू साथियों को खेत जोतने के काम में झोंक दिया गया।

लड़कों का जातीय प्रशिक्षण

हम में से प्रत्येक को अपनी जातीय भाषा से परिचित होना ही पड़ता था। मुझे भेड़ और भेड़पालन कार्यों की विशिष्ट भाषा सिखाई गई। मुझे भेड़ों के विभिन्न नाम बताये गये थे-वोल्ली गोरें, पुला गोरें, नल्ला गोरें और इसी प्रकार के अनेक नाम। मैंने भेड़ों की उन बीमारियों के बारे में सीखा, जिससे वे पीड़ित रहती थीं। भेड़ का प्रसव कैसे कराया जाये, शिशु भेड़ को कैसे संभाला जाये। भेड़-पोषण में कौन सी हरी घास सर्वोत्तम होती है। बकरियों की ओर विशेष ध्यान देना होता था, जब उन्हें पेड़ों की पत्तियां खिलाई जातीं। (बकरियां घास नहीं खातीं) हमें सिखाया जाता जब भेड़-बकरियां

बीमार पड़ती हैं तो उन्हें कौन सी जड़ी औषधियां दी जाती हैं। यदि बीमारियां स्नायु संबंधित हैं तो हमने सीखा था कि गर्म लोहे की छड़ से उस प्रभावित जगह को कैसे दागा जाये। सबसे कठिन कार्य होता था भेड़ के शरीर से ऊन उतारना। कैंची को इस सावधानी से चलाना होता था कि उनकी त्वचा के निकट से बिना किसी नुकसान के ऊन कटे, त्वचा नहीं। ये सब भेड़-पालकों की दक्षता का हिस्सा थे और हमें इन कार्यों में सावधानी पूर्व प्रशिक्षित किया गया था।

लड़कियों का जातीय प्रशिक्षण

लड़कियों को किस प्रकार शिक्षित किया जाता है या उनका लालन-पालन कैसे होता है? चाहे वे मेरी बहनें हों या अन्य, प्रशिक्षण की पद्धति एक ही थी। बड़ी लड़कियां जैसे तीन वर्ष की हो जातीं, को सिखाया जाता कि वे अपने-अपने छोटे भाई-बहनों को किस प्रकार संभालें। तीन महीने के बच्चे को संभालने के लिए कुशलता और सावधानी की आवश्यकता होती है वह भी तब जब संभालने वाली बाहें तीन वर्ष की हों। यह है सबसे महत्वपूर्ण मदद जिसकी मां को आवश्यकता होती है, क्योंकि उसे भेड़ों, कृषि संबंधित कार्यों के लिए सुबह सवेरे घर से बाहर जाना पड़ता है। मां उन्हें यह भी सिखाती है कि कैसे मिर्च पीसी जाती है, धान कूटा जाता है, घर की झाड़ू-बुहार, खाने के बर्तनों की सफाई की जाती है।

इसके अलावा, एक कुरुम्मा स्त्री अपनी लड़की को यह सिखाती है कि कैसे ऊन से चिपके कांटों को ऊन से अलग किया जाता है, और कैसे धागा बनाने (ताडु वडकडम) के लिए तैयार किया जाता है। ये सभी कार्य अत्यंत कुशलता के हैं। बारह या तेरह वर्ष की उम्र तक (वे जवान हो जाती हैं) एक कुरुम्मा लड़की को खाना बनाने की प्रारंभिक जानकारी हासिल कर लेनी चाहिए। चूल्हा जलाना और उसे संभालना से इस काम की शुरुआत होती है। एक कुरुम्मा के चूल्हे में तीन पत्थरों के साथ एक ओर बढ़ा हुआ हिस्सा होता है। इस बड़े हुए हिस्से पर एक बर्तन रखा जाता है जिसे 'वोथु' कहा जाता है, जिस पर पानी उबलने के लिए रखा जाता है। इसमें भी एक खास कुशलता की जरूरत होती है, जब मुख्य चूल्हे पर खाना बनता है तो यह हिस्सा गिरे नहीं और वोथु टूटे नहीं। कुरुम्मा लड़की यह भी सीखती है कि कुराडु जो कुरुम्मा रसोई का एक खास हिस्सा है (अन्य दलितबहुजन जातियों का भी), को कैसे बनाया जाता है। कुरुम्मा कुराडु गंजी (स्टार्च, मांड) से बनता है जिसे पकाए गए चावल से निकाला जाता है और उसे खमीर बनाने के लिए उस समय तक रख दिया जाता है जब तक वह हल्की खट्टी गंध न देने लगे। जब चावल या ज्वार को पकाया जाता है, कुराडु को द्रव्य की तरह हमेशा इस्तेमाल किया जाता है। कुराडु को स्वास्थ्य के लिए अच्छा माना जाता है। साथ ही यह भी मान्यता है कि यह खाने में से बुरी आत्माओं को बाहर निकाल देता है। प्रत्येक लड़की को छोटी उम्र से ही इन कार्यों को करने के लिए दीक्षित किया जाता है। सबसे पहले वर्तनों को संभालने की, जो टूट जाने के लिए नाजुक होते हैं, सावधानी और परिष्कृत कुशलता की आवश्यकता होती है। केवल एक कार्य जो हमारी लड़कियों को नहीं सिखाया जाता, जिसे शहरी लड़कियां आज सीख लेती हैं, वह है कपड़े धोना। वह इसलिए

क्योंकि कपड़े धोना धोबी स्त्री/पुरुषों का कार्य है। एक लड़की जो चाकाली (धोबी) परिवार में पैदा होती है, उसे इन सब कार्यों के साथ विभिन्न प्रकार के कपड़े धोने के कार्य में भी दक्ष होना पड़ता है।

इन परिवारों में जन्मी लड़कियां छोटी उम्र में ही यह भी सीख लेती हैं कि कैसे हल रेखा में सावधानी पूर्वक बीज बोया जाता है। उन्हें सिखाया जाता है कि कैसे निराई की जाती है और कैसे फसल से खरपतवार बाहर निकाल कर फेंकी जाती हैं। वे सीखती हैं कैसे कीचड़ भरे खेत में पीछे की ओर चलते हुए, झुककर पौधों को रोपा जाता है। बहुत सी बातें हैं जो बुजुर्गों द्वारा छोटी को सिखाई जाती हैं। निरपवाद रूप से कुछ लोगों ने इन क्रिया-कलापों में निपुण होने की ख्याति अर्जित की होती है। युवा लोग ऐसे निपुण व्यक्तियों का अनुकरण कर गर्वित होते हैं।

यौनिक लोकाचार

यौन व्यवहार और लोकाचार भी पारिवारिक और सामूहिक जीवन की बराबरी के हिस्से होते हैं और उन्हें भी उसी तरह सिखाया जाता है। वृद्ध महिलाओं के समूह में बैठकर लड़कियां 'अनुशासित और अनुशासनहीन' स्त्रियों के बारे में, उनकी यौन जीवन-शैली, पति और अन्यों से उनके रिश्तों के विषय में सुनती हैं। एक पिता अपने बच्चों के सामने बैठकर ज़िन्दगी के बारे में अपना नज़रिया या दूसरी औरतों के साथ अपने संबंधों के बारे में बताने में कोई झिझक महसूस नहीं करता है। बच्चों के लिए पिता से ज्यादा महत्वपूर्ण मां का दृष्टिकोण होता है। एक दलितबहुजन मां अपने बच्चों को उसी तरह प्रशिक्षित करती है जैसे मुर्गी अपने चूजों को। वह बच्चों को अपने साथ खेत में ले जाती है और उन्हें छोटे-छोटे कार्यों में लगा देती है। जब वह खेत पर जाती है तो अक्सर बच्चों को अपनी समस्याओं में शामिल कर लेती है, विशेष रूप से लड़कियों को। जीवन के हर एक पहलू पर बात करना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं होता है।

यदि किसी दलितबहुजन स्त्री का अपने पति के अलावा किसी अन्य पुरुष से संबंध होता है तो वह गुप्त नहीं रहता है। समूचा वाड़ा इस पर चर्चा करता है। परिवार के बच्चे भी इसे जान लेते हैं। विशेष रूप से उस वक्त जब मां बाप झगड़ते हैं तो जीवन का प्रत्येक पहलू सार्वजनिक हो जाता है। कोई भी झगड़ा ऐसा नहीं होता जो घर के भीतर छिपा रहे। घर बच्चों के लिए खुशी और पीड़ा का स्थान होता है। लेकिन यह सब खुले में होता है। पुरुष बच्चे अपने साथियों की संगति में स्त्रियों के और यौनाचार के बारे में सीख जाते हैं। खेतों की ओट में, मैदानों या भेड़ों के चारागाहों में, सभी प्रकार के प्रयोग संपन्न होते हैं। बहुत जल्दी ही जीवन की अच्छाइयों और बुराइयों को सीख जाते हैं। इन अभ्यासों में प्रत्येक की नैतिकता और अनैतिकता की चर्चा की जाती है। नैतिकता और अनैतिकता की यह चर्चा किसी ईश्वरीय व्यवस्था या ईश्वरीय आदेश के आधार पर नहीं होती है वरन् परिवारों की आन्तरिक सुख-शान्ति को बनाए रखने के लिए की जाती है।

जातीय भाषा

जातीय भाषा अपने व्याकरण से ही विकसित होती है। यह

व्याकरण अत्यन्त लचीला और सतर्क होता है, जो उत्पादकता के आधार पर संप्रेषण के लिए बनाया जाता है। हालांकि यह भाषा बिना लेखन की सहायता के विकसित होती है। फिर भी यह मानक ब्राह्मणी-तेलगू से कम परिष्कृत नहीं है। बच्चों की भाषा के अनुभवों का आरंभ प्रत्येक वस्तु जो उनके इर्द-गिर्द है के नाम रखने से होता है। जैसे पक्षियों, जानवरों, वृक्षों, कीड़ों आदि के नाम। प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक कीड़ा, प्रत्येक चेतन और जड़ प्राणी का एक नाम होता है। इनमें से बहुत सी वस्तुओं के लिए 'मानक' ब्राह्मणी भाषा में कोई शब्द नहीं है। ब्राह्मणी भाषा नये नाम गढ़ने के हमारे तरीके को नहीं समझती। ये नाम लिखित भाषा के ज़रिये नहीं पढ़ाए जाते हैं। बल्कि जरूरत के आधार पर मौखिक रूप से संप्रेषण में बार-बार दोहराए जाते हैं। प्रत्येक जाति की जड़ें उसकी अपनी उत्पादक प्रणाली में होती हैं, और उसकी भाषा उत्पादक के इर्द-गिर्द बुनी जाती है। कुरुम्माओं की अपनी भाषा होती है। जैसे लंवाड़ाओं, इरुकलाओं या कोयाओं की। कुरुम्मा सिर्फ भेड़, बकरियों, वृक्षों, पौधों आदि के बारे में ही नहीं जानते वरन् वे उन सभी यंत्रों के नाम भी जानते हैं जो ऊन बनाने और कंबल-बुनने में काम आते हैं। एक गौड़ा ताड़ी निकालने में ही निपुण नहीं होता वरन् उसके लिए आवश्यक यंत्रों और पूरी प्रक्रिया के बारे में जानता है। इन जातीय पेशेगत कार्यों को करते हुए संप्रेषण के दौरान भाषा जो सिद्धता हासिल करती है वह ईश्वर का नाम जपते हुए ब्राह्मण के मंत्रोच्चार की भाषा की तरह या उससे कहीं अधिक परिष्कृत होती है। विडम्बना है कि भगवान या भगवानों के नामों का पाठ करना बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य माना जाता है जबकि उत्पादन और उत्पादकता के औजारों को जानने की भाषा को ज्ञान तक नहीं माना जाता। ब्राह्मणों ने ज्ञान को अपनी ही कल्पना से पारिभाषित किया। लेकिन सच्चाई यह है कि प्रत्येक जाति ने अपने ज्ञान एवं शब्दों का भंडार निर्मित किया है। प्रत्येक जाति ने अपनी एक विशिष्ट चेतना निर्मित की है। एक व्यक्ति के तौर पर हम अपने प्रति, अपने वातावरण, अपने उत्पादन और उत्पत्ति के प्रति चेतना अर्जित करते हैं। इस चेतना को सुव्यवस्थित धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं है। और तो और यहां भाषा संप्रेषण का सामाजिक यंत्र है और विशिष्ट चेतना की अभिव्यक्ति है।

हमारे देवता और हमारी चेतना

हम से हिन्दू को जिस बात ने अलग किया है वह है दूसरी दुनिया की चेतना की प्रकृति जो दैवीय और ईश्वरीय और आध्यात्मिक है। हमारी जाति के बच्चों को जजा (ईश्वर की धारणा) से चन्द्रमा के रूप में परिचित कराया जाता है। जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते हैं, वे पोचम्मा, पोलीमेरम्मा, कट्टामैसम्मा, काटामाराजु, पोटाराजु और अन्य देवताओं से भी परिचित हो जाते हैं। दलित बहुजन में किसी एक विशिष्ट स्थान या शक्ति में मंदिर की अवधारणा नहीं है। देवी-देवता सभी रूप में और सभी आकृतियों में और विभिन्न स्थानों पर रहते हैं। प्रत्येक दलित बहुजन बच्चा अपनी प्रारंभिक उम्र में ही इन देवी-देवताओं के बारे में जान लेता है। बच्चे जातीय सभाओं का हिस्सा होते हैं जो वोनाल, भिन्ना पाडुंगा, पेडापाडुंगा आदि त्यौहारों के समय आयोजित होती है। प्रत्येक दलितबहुजन बच्चा बचपन में

ही सीख लेता है कि चेचक आती है क्योंकि पोचम्मा नाराज़ है। गांव का तालाब पानी से भरेगा या नहीं यह कट्टामैसम्मा की अनुकम्पा पर निर्भर करता है। चोरों ने फसल चुरा ली है क्योंकि पोटाराजु नाराज हैं। कुरुम्माओं के लिए भेड़-बकरियां फले-फूलेंगी या नहीं, यह वीरप्पा, एक जाति विशेष के देवता के रुख पर निर्भर होता है।

इसी प्रकार गांव में दलितबहुजन के सामूहिक देवी-देवता और जाति विशेष के देवी-देवता हैं। निःसंदेह, हमारे लिए आत्मा है, प्रेतात्मा है, मृत लोग भूत-प्रेत के रूप में हमारे आस-पास दुबारा रहने के लिए आते हैं, यदि उन्हें जीवित रहने के दौरान खाना भरपेट नहीं दिया गया। लेकिन वहां न स्वर्ग है और न ही नर्क। सभी मरे हुए लोग कहीं आकाश में एक साथ रहते हैं। इस चेतना ने अभी तक एक संगठित धर्म की शक्ति ग्रहण नहीं की है। दलितबहुजन की आत्मा अपने सार तत्व में गैर-हिन्दू आत्मा है क्योंकि हिन्दू पैतृक देवता हमारे बीच कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं।

हम जब तक स्कूल नहीं जाते तब तक ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के विषय में कुछ भी नहीं जानते। जब हम इनके बारे में पहली बार सुनते हैं, तो वे हमारे लिए उतने ही अजनबी होते हैं जितने अल्लाह, जेहोवा या यीशु। यहां तक कि बुद्ध के नाम, जिनके बारे में बाद में हमने पढ़ा कि उन्होंने ब्राह्मणवादी-कर्मकाण्डों के विरुद्ध दलितबहुजन को संगठित किया था, तक का हमें पता नहीं था।

भाषा, जिसे एक ब्राह्मण, बनिया या क्षत्रिय बच्चा सीखता है, सभी सामाजिक संबंध जो वे बच्चे हिन्दू संस्कृति के अंग के नाते सीखते हैं, वे भी हमारे लिए पराये होते हैं। काफी बाद में मैंने जाना और देखा भी कि ब्राह्मण बच्चे को खेतों में जाना, या मवेशियों और फसल की देखभाल करना नहीं सिखाया जाता है। लेकिन छोटी उम्र में ही उन्हें स्कूल जाना चाहिए। मेरे बहुत से ब्राह्मण मित्रों ने बताया कि एक पारंपरिक ब्राह्मण पिता अपने बच्चों को छूता नहीं है। बच्चों का लालन-पालन करना पत्नी का काम होता है। बच्चे को नहलाना-धुलाना एक अस्वच्छ कार्य माना जाता है। इसलिए इसे स्त्री पर छोड़ दिया गया है। जब मां एक बच्चे की देखभाल करती है तो क्या ये तथाकथित उच्च जाति के पिता रसोई में मदद करते हैं? नहीं। रसोई भी एक गंदी जगह है। जहां उसे नहीं जाना चाहिए। इस तरह ब्राह्मणवादी पवित्रता और प्रदूषण का विचार घर में भी काम करता है। हमारी कुशलता पर आधारित शब्दावली की तुलना में वे 'वेद', 'रामायण', 'महाभारत', 'पुराण' आदि शब्दों को सीखते हैं। कम उम्र में ही वे ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण, लक्ष्मी, सरस्वती, सीता, और सावित्री जैसे नाम सुनते हैं। बच्चों को इन देवताओं की वीरता (अधिकतर हिंसा) की और देवियों के नारीत्व की कहानियां सुनाई जाती हैं। उदाहरण के तौर पर विष्णु एक नाग के ऊपर लेटे हैं, साथ में लक्ष्मी उनके पांव के पास बैठकर उनके पांव दबा रही है।

इतना ही नहीं ब्राह्मण परिवार पोचम्मा, मैसम्मा या एलम्मा की बात करते हैं, तो उसमें आदर का वह भाव नहीं होता जैसा ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के लिए होता है। उनके लिए पोचम्मा और मैसम्मा 'शूद्र' देवियां हैं और बहुत शक्तिशाली मानी जाती हैं। लेकिन एक बुरे और नकारात्मक रूप में। उनके अनुसार पोचम्मा उतने आदर की

मांग नहीं करती है जितने की लक्ष्मी और सरस्वती। क्योंकि लक्ष्मी और सरस्वती एक आदर्श पति की आदर्श पत्नी मानी जाती हैं, जबकि पोचम्मा का पति कौन है, कोई नहीं जानता, ज़्यादा से ज़्यादा वे मैसम्मा का पति बता सकते हैं। यही कारण है, कि एक ब्राह्मण उसी वक्त, पोचम्मा का नाम पुकारता है, जब किसी को चेचक निकल आती है, वह भी अवमाननापूर्ण ढंग से। किसी ब्राह्मण या बनिया के बच्चे का नाम पोचम्मा, मैसम्मा और एलम्मा नहीं रखा जाता है। जबकि हमारे परिवारों में पोचम्मा, मैसम्मा और एलम्मा सम्मानजनक नाम हैं और हम अपने बच्चों के नाम इन देवियों के नाम पर रखते हैं। बहुजन परिवारों में पोचम्मा, और मैसम्मा आदरणीय देवियां हैं, अपनी स्वयं की सामर्थ्य में एक औसत दलितबहुजन के ध्यान में यह नहीं आता कि इन देवियों के पति नहीं हैं। और इसलिए इनके लिए अनादर युक्त ढंग से बोला जाये। यह इसलिए क्योंकि हमारे गांव में ऐसी अनेक विधवाएं हैं जिनको बहुत आदर दिया जाता है, उनका सामाजिक स्तर और उनकी कार्य कुशलता और अपने साथ के लोगों के प्रति उनके रवैये पर निर्भर करता है। मुझे याद है मेरे गांव में अनेक युवा विधवाएं हैं, जो कृषि कार्यों में टीम का नेतृत्व करती हैं, क्योंकि वे बहुत ही सम्माननीय हैं।

पोचम्मा और जनसाधारण के बीच कोई पुरोहित नहीं है। वास्तव में हमारे देवताओं और देवियों की पूजा में किसी पुरोहित की कतई आवश्यकता नहीं है। यहां तक कि हम एक बच्चे के रूप में भी अक्सर उनसे याचना करते हैं कि वे हम पर मेहरबान रहें, ताकि हम बुखार और चेचक के प्रकोप से बचे रहें। एक बच्चे के रूप में हमने कभी नहीं सोचा कि ये देवी-देवता हमारी भाषा नहीं समझते हैं या यह कि हमें देवताओं से संस्कृत में बात करने के लिए एक पुरोहित की जरूरत है। अपने मां-बाप की तरह, जो कि अपनी ही भाषा में इन देवी-देवताओं से प्रार्थना करते थे, हम भी स्थानीय भाषा में ही उनसे प्रार्थना करते हैं। हम इन देवियों से स्वयं को विभिन्न तरीकों से जोड़ते हैं।

एक हिन्दू परिवार वंशानुगत होता है। लड़कियों को लड़कों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, बच्चों को अपने से बड़ों की। परिवार के बीच सम्मान निश्चित करने और नापने के दो ही तत्व हैं- उम्र और लिंग। उत्पादन संबंधी कार्यों के लिए बच्चों को प्रशिक्षित नहीं किया जाता है क्योंकि ब्राह्मण उन्हें एक 'शूद्र' कार्य मानकर निषिद्ध करते हैं। इसी तरह दलितबहुजन बच्चों के साथ उनकी मित्रता पर रोक लगाई जाती है। उच्च जातियां दलितबहुजन को 'बदसूरत' मानती हैं। 'शूद्र' एक गालीवाचक शब्द है। 'चंडाल' और भी ज़्यादा अपमानजनक है। उच्च जाति के बच्चों को बहुजनों से भिन्न रहना सिखाया जाता है। हिन्दू की अमानवीयता उनकी प्रारंभिक मानसिक संरचना का हिस्सा बन जाती है। दलितबहुजनों से घृणा करना उनकी चेतना का विशिष्ट हिस्सा होता है।

हिन्दू परिवारों में यौन-व्यवहार के बारे में बात करना वर्जित होता है। मां का अपनी बेटी से अपने यौन-अनुभवों की चर्चा करना अच्छा नहीं माना जाता है। मां पर पिता के जुल्मों के विषय में एक ब्राह्मण या बनिया परिवार में बातचीत नहीं की जा सकती है। हमारे

परिवारों में ऐसा नहीं होता है। पिता बच्चों के सामने ही मां को प्रताड़ित करते हैं और मां भी उसी वक्त उसका जवाब दे सकती है। बच्चे इन सब बातों के साक्षी होते हैं। हिन्दू परिवारों में पिता मां को रुला सकता है, लेकिन मां से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह पलट कर वार करे। वहां पति पत्नी को चाहे जितना प्रताड़ित करे पत्नी को सब सहना होता है। पति के अत्याचार को पत्नी जितना सहन कर सकती है, उसकी उतनी ही ज़्यादा प्रशंसा होती है। उच्च जातियों में बच्चों को 'मडी' (खाना पकाते वक्त शुद्ध रहने के लिए गीला कपड़ा पहनना) की जरूरत के बारे में सिखाया जाता है। उनके वहां खाना पकाने की क्रिया रीति-रिवाजों के अनुसार ही होनी चाहिए। पुरुष सदस्यों की इच्छा के अनुसार ही खाना पकाना हरेक लड़की को सिखाया जाता है। ब्राह्मण भोजन के हिस्से के रूप में बारह प्रकार के व्यंजन बनाना जरूरी माना जाता है। हर एक लड़की को यह जानना चाहिए कि एक ब्राह्मण पुरुष को अच्छा खाना खिलाना देवता को अच्छा खाना खिलाने के बराबर होता है। अगर कोई ब्राह्मण गरीब होता है या वह केवल कुछ खाद्य पदार्थों का खर्चा ही वहन कर सकता है, तो कोई बात नहीं, लेकिन इन खाद्य पदार्थों को भगवान से उनके संबंध के आधार पर ही पकाया जाना चाहिए। इन परिवारों में पुरुष और भगवान कई रूपों में एक समान ही माने जाते हैं। हमारे परिवारों में स्थिति एकदम जुदा है।

मडिग्गा और हिन्दू

आईए अब मडिग्गाओं की बात करें। मडिग्गाओं के बारे में हिन्दुत्ववादी यह दावा करते हैं कि वे उन्हीं के धर्म का हिस्सा हैं। मेरे गांव में लगभग चालीस मडिग्गा परिवार रहते हैं। वे गौड़ाओं की बगल में ही रहते हैं। इन दोनों जातियों में एक दूसरे को छूने के संबंध नहीं होते हैं। मुझे याद नहीं पड़ता कि बचपन में गांव में मेरा कोई मडिग्गा मित्र था। मडिग्गा लड़के जो मुझसे छोटे थे मडिग्गा 'जीता' (खेतों के नौकर) कहलाते थे। उनके परिवार और उनके सांस्कृतिक संबंध हमसे काफी मिलते थे। हमारे बचपन में काफी अंतर था। उन्हें बचपन से ही पूरी तरह तथाकथित उच्च जातियों के अपने छोटे और बूढ़ों के प्रति आज्ञाकारी होना सिखाया जाता था। उन लोगों को उन्हें 'अय्या वांदा' कहना पड़ता था। अगर वे 'जीता' होते तो उन्हें पांच साल की उम्र से ही पशुओं और भैंसों को संभालना और फसलों की देखभाल करनी होती थी। उनका बचपन हमारे बचपन से ज़्यादा कष्टदायक होता था। लेकिन कुछ खास चीज़ों में वे हमसे ज़्यादा कुशल और बुद्धिमान होते थे। वे जानते थे मरे हुए जानवरों की खाल कैसे निकाली जाती है। उस खाल को कोमल और मुलायम चमड़े में कैसे तब्दील किया जाता है। उस चमड़े से खेती-औज़ार और जूते किस प्रकार बनाये जाते हैं। 'दप्पू' (एक खास ताल वाद्य) बजाने में उनकी कुशलता हमसे कहीं ज़्यादा अच्छी थी। मडिग्गा लड़के लड़कियों को बचपन से ही ज़मींदार, ब्राह्मण और कुमटी के सामने नतमस्तक होना सिखाया जाता था। यह उनके प्रतिदिन के बचाव के लिए जरूरी था।

चक्काली और मांगली बच्चों के लिए भी ऐसा ही था। घरों के भीतर वे एक समान थे, और एक साथ खाते, पीते और

धूम्रपान करते थे। बचपन से ही वे समान थे। माता-पिता उनको ये सब उनकी शिक्षा के रूप में सिखाते हैं। माता-पिता और बच्चों के लिए समानता और नैतिकता दो अलग-अलग बातें नहीं थीं। वे अपने बच्चों को ऊंची जाति के स्वामियों के आगे नतमस्तक होना सिखाते हैं। ऐसा इसलिए नहीं किया जाता है कि मडिग्गा, चक्काली, मांगली माता-पिता ऊंची जाति के ज़मींदारों, ब्राह्मणों या बनियों का आदर करते थे। अपनी रोजी-रोटी के छूट जाने के भय से वे ऐसा करते थे। वे अपने बच्चों से कहते हैं, 'मेरे बेटे उस हरामजादे से सावधान रहो। उसके आगे आज्ञाकारी होने का नाटक करो, अन्यथा वे हमारे पेट पर लात मार देंगे।' बच्चे आज्ञाकारी होने का नाटक करते, वैसे ही जैसे गांधी गरीब होने का करते थे। लेकिन छोटी उम्र से ही किया जाने वाला वह ढोंग पूरे जीवन उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाता है। ऊंची जाति 'डोरा' का भय उनमें गहरे बैठ जाता है। घरों में बच्चों को समानता का पाठ पढ़ाने वाला हर एक दलितबहुजन परिवार अपने बच्चों को समाज में वंशानुगत जीवन के बारे में भी सिखाता था। इसका सीधा सा कारण था, ऐसा न करने पर उन पर भयानक अत्याचार हो सकते हैं। इसलिए कि मडिग्गा अछूत हैं। इसलिए कि उनकी आर्थिक स्थिति बेहद खराब है। इन तथ्यों के बावजूद भी मडिग्गा पूरी तरह कुरुम्माओं, गौड़ाओं और उन जैसे दूसरों की तरह ही थे। मगर उनमें किसी दूसरी जाति की तुलना में धार्मिकता कम है। कुरुम्मा, गौड़ा, कापू और शला के यदि सात-आठ देवी-देवता हैं, तो मडिग्गा के केवल एक या दो देवी-देवता ही होते हैं वे हर एक त्यौहार पर 'दम्पू' बजाते हैं। लेकिन एक सहभागितापूर्ण तरीके से। 'एलम्मा' उनकी कुलदेवी है। वे केवल उसी का त्यौहार मनाते हैं। उनके लिए स्वर्ग और नर्क का भी कोई अस्तित्व नहीं है। हर दिन के लिए भोजन कमाना ही उनके जीवन संघर्ष का केन्द्र है। जिस दिन भोजन न मिले, वह दिन नर्क है। जिस दिन भोजन मिल जाता है, वह दिन स्वर्ग होता है। ये सभी जातियाँ एक चीज से अनभिज्ञ थीं। वह चीज थी किताबें पढ़ना, मंदिर जाना, प्रार्थना करना या संध्यावन्दना करना। भगवद्गीता को एक धार्मिक पुस्तक बताया जाता है। यह किताब हमारे घरों में नहीं आनी चाहिए। सिर्फ यही नहीं, हिन्दू धर्म और उसकी ब्राह्मणवादी बुद्धिमत्ता हम सभी के लिए साक्षरता को वर्जित मानती है। आधुनिक शिक्षा और अबेडकर के आरक्षण के सिद्धान्त ने जातियों में एक छोटे पढ़े-लिखे तबके की रचना की। लेकिन इन बातों के क्रियान्वयन होने तक अक्षरज्ञान हमारे लिए पूर्णतया निषिद्ध था। यह एक ऐसा ठोस तरीका था जिसके द्वारा धार्मिक पुस्तकों को हमारे जीवन में प्रवेश करने से रोका जाता था। इसके अलावा दलितबहुजन जातियों के छोटे, बड़े और बूढ़ों के लिए मूर्ति-पूजा आधारित और पुजारी केन्द्रित मन्दिर निषिद्ध थे। हालाँकि आजकल कुछ निम्न जातियों को मंदिर प्रवेश की अनुमति है किन्तु वे कभी भी इन देवी-देवताओं से अपना संबंध नहीं बना सकते हैं।

स्कूली शिक्षा

दलितबहुजन इतिहास में पहली पीढ़ी ने जब स्लेट और पेंसिल देखी तो उसके लिए यह जंगल से विद्यालय में छलांग लगाने जैसा था। वहाँ हमारे और हिन्दुओं के बीच क्या समानता हो सकती थी? वहाँ भी ब्राह्मण-बनिया बच्चों की स्थिति खास थी। उनके पास अच्छे कपड़े थे। और उन्हें अच्छा भोजन मिलता था। भले ही सभी बच्चे एक ही गांव में पैदा हुए थे, लेकिन उन्होंने एक भिन्न संस्कृति के साथ स्कूलों में प्रवेश किया था। खाने की हमारी आदतें एक जैसी नहीं थीं। दलितबहुजन के लिए अच्छे भोजन का अर्थ था मांस और मछली। हमारे लिए यही स्वादिष्ट था और हमें यही अच्छा लगता था। ब्राह्मण-बनिया के बच्चों को मांस-मछली के बारे में बात करते ही उल्टी होने लगती थी। मडिग्गा और मुसलमानों के लिए 'बछड़े का मांस' स्वादिष्ट था। हमारे लिए यह वर्जित था। लेकिन हम ब्राह्मण और बनियों की तरह इस मांस से नफरत नहीं करते थे। यह अंतर केवल व्यक्तियों की रुचियों के अंतर नहीं थे। बल्कि ये अंतर हमारे पालन-पोषण के अंतर भी थे।

विद्यालय के अध्यापक का हमारे प्रति रवैया उसकी अपनी जातीय पृष्ठभूमि पर निर्भर करता था। अगर वह ब्राह्मण होता तो हमसे घृणा करता। वह हमारे सामने ही कहता कि कलयुग या बुरे समय का ही असर है कि उसे हमारे जैसे शूद्रों को पढ़ाने को मजबूर किया जा रहा है। उसकी निगाह में हममें कुछ भी अच्छा नहीं था। 'बुद्धिमान' अध्यापक हमें 'शूदारी' परिवारों (खेत में काम करने वाले परिवार) से आने वाला मानते थे। उनकी राय में खेतों में काम करना एक गंदा और घृणित पेशा था। उनके अनुसार केवल विधर्मी लोग गंदे और कीचड़ भरे खेतों में काम करते थे। आज हमको लगता है कि कीचड़ में काम करना हमारे लिए अच्छा था। हम सोचते हैं कि कीचड़ भोजन और कामगार लोगों के विचारों की जन्मभूमि है।

तब, अध्यापकों के मुताबिक महान कौन थे? कोई और नहीं बल्कि ब्राह्मण, बनिया और ऊंची जाति के ज़मींदारों के परिवारों से आने वाले बच्चे। वही उनके लिए महान थे। वे खेती-बाड़ी का गंदा काम नहीं करते थे। उनके चेहरे साफ तरीके से धुले होते थे। उनके कपड़े साफ होते थे। उनके बालों में तेल डला होता था और कंधी की हुई होती थी। वे स्कूल में चप्पल पहनकर आते थे। जो लोग जानवरों को पालते हैं, जो जानवरों की खाल से चप्पल बनाते हैं उनके पास पहनने के लिए चप्पल नहीं होती है। यही कारण था कि हम उपेक्षित, भद्दे और गंदे थे। सिर्फ अध्यापक ही नहीं बल्कि ऊंची जाति के स्कूली बच्चे भी दलितबहुजन बच्चों के बारे में ऐसा ही सोचते थे।

जैसे-जैसे हम बड़े होते गए और ऊंची कक्षाओं में जाते गए, वहाँ हमें ऐसी कहानियाँ सुनाई जाने लगीं जो हमने अपने परिवारों में कभी नहीं सुनी थीं-राम-कृष्ण की कहानियाँ, पुराणों की कविताएँ और रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों के नाम बार-बार दोहराये जाने लगे। विद्यालयों से लेकर महाविद्यालयों की पाठ्य पुस्तकों में ऐसी ही हिन्दू कहानियाँ भरी पड़ी हैं। ब्राह्मण, बनियों के विद्यार्थियों के लिए ये कहानियाँ उनके बचपन से सुनी हुई होती थीं। सिर्फ

कहानियों से ही नहीं बल्कि उनके देवताओं से भी वे परिचित होते थे, क्योंकि वे इनकी पूजा करते थे। जब कभी वे अपने माता-पिता के साथ मंदिरों में जाते तो वे वहाँ इन देवताओं की मूर्ति देखते थे। लड़कों के नाम इन देवताओं के नाम पर होते थे, और लड़कियों के देवियों के नाम पर। वे सब नाम मुझे खास तौर पर अलग-अलग लगते थे। कई सारे नाम तो मेरे गांव के लिए भी अजनबी थे। हमारे लिए कालिदास का नाम भी उतना ही अजनबी था, जितना शेक्सपीयर का। फर्क केवल इतना था कि एक नाम तेलुगु पाठ्य-पुस्तकों में आता था तो दूसरा अंग्रेजी में। ब्राह्मण-बनियों विद्यार्थियों के लिए शायद स्थिति दूसरी थी। इन पाठ्य-पुस्तकों की भाषा हमारे समुदाय में बोली जाने वाली भाषा से भिन्न थी। मूलभूत शब्द भी भिन्न थे। पाठ्य-पुस्तकों की तेलुगु 'ब्राह्मण-तेलुगु' थी। हम बोलचाल की उत्पादन पर आधारित तेलुगु के आदी थे। भाषा और उसकी अंतर्वस्तु के संदर्भ में तेलुगु पाठ्य-पुस्तकों से हमारा अलगाव कमोबेश उतना ही था, जितना अंग्रेजी पाठ्य-पुस्तकों से। यह केवल बोली का फर्क नहीं था, बल्कि यह फर्क खुद भाषा में भी निहित था।

आज की तारीख तक मुझे कोई ऐसी तेलुगु पाठ्य-पुस्तक देखने को नहीं मिली है जो उत्पादन आधारित बोलचाल की भाषा में लिखी गई हो। पोचम्मा पोटाराजु, कट्टामैसम्मा पर कोई अध्याय मुझे इसमें देखने को नहीं मिला। ऐसा नहीं है कि इन देवी-देवताओं से जुड़ी कोई कहानी नहीं है। अगर इनका कोई कथावृत्त नहीं होता तो यह हजारों सालों से लोगों के बीच बने न रहते। किसी दलितबहुजन कथावाचक से इन कहानियों को सुनते वक्त हम इन पर मंत्रमुग्ध होकर रह जाते थे। क्योंकि ज्यादातर लेखक ब्राह्मण ही होते हैं। इसलिए किसी लेखक ने इन कथाओं को लिखने के बारे में नहीं सोचा। अगर ऐसा होता तो शायद ये कथा विद्यालयों और कालेजों की पाठ्य-पुस्तकों में शामिल की जा सकती थी। लेकिन इन लेखकों की राय में हमारे देवी-देवताओं के नाम इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं कि उनका उल्लेख किया जाये।

मुख्यधारा के किसी तेलुगु कवि ने कभी यह नहीं सोचा कि संस्कृति की बात करने का अर्थ, इन देवी-देवताओं की बात करना भी है। किसी कवि ने कभी यह नहीं सोचा कि कविता वही है जो लोग रोजाना बातचीत करते हैं, विचार-विमर्श करते हैं या विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। ऐसे भी कवि हुए हैं जो इन हिन्दू परिवारों में जन्मे जरूर हैं, मगर बाद में वे कम्युनिस्ट, अनीश्वरवादी, या विवेकवान हो गए हैं। इन कवियों ने भी अपनी रचनाओं के विषय के रूप में हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी को कभी नहीं उठाया। विडम्बना ये है कि इन क्रान्तिकारी कवियों के नाम भी हमारे लिए अजनबी ही बने रहे। उनके लिए यलैय्या, पुल्लैया, वच्छैया, वच्छम्मा, लच्छम्मा जैसे नाम दूसरों के नाम हैं। दूसरों की जरूरत कभी उनके लेखन का विषय नहीं बनी। उनकी कथाओं का केन्द्र-बिन्दु यह नहीं है।

पुरोहितों ने पुराणों की प्रशंसा लिखी है और कम्युनिस्टों और विवेकवान लेखकों ने इन पुराणों की टीकाएं लिखी हैं। लेकिन किसी

ने यह नहीं सोचा कि हमारी भी कोई आत्मा है जिसके बारे में बात करने की भी कोई जरूरत है। किसी ने यह नहीं सोचा कि यहां पोचम्मा, मैसम्मा और पोटाराजु भी हैं जिनके बारे में बात की जानी चाहिए। कम्युनिस्टों और विवेकवान लोगों ने भी उसी भाषा में लिखा है जिस भाषा में पुरोहित लिखते रहे हैं। दरअसल उनकी संस्कृति मूल रूप से अभिजात्यवादी है और हमारा उस संस्कृति में कोई स्थान नहीं है। अच्छे या बुरे किसी भी रूप में किसी ने भी हमारे बारे में बात नहीं की है। किसी ने भी यह महसूस नहीं किया कि हमारी भी एक भाषा है जिसे हमारे समुदाय में सभी लोग समझते हैं। अक्सर इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि हमारा समुदाय जनसंख्या की दृष्टि से कोई छोटा-मोटा समुदाय नहीं है। वह लाखों करोड़ों में है, जबकि ऊंची जाति के लोग बहुत ही थोड़े हैं। यदि हमारे माता-पिता में, इस गंभीर हिंसा के षडयंत्र के बारे में कोई चेतना होती तो वे बड़ी आसानी से नश्वर की तरह (जैसे वे सामान्यतः तंबाकू पाउडर का कश लगाते हैं) इनका कश लगा चुके होते। लेकिन इस चेतना को ही दबा दिया गया, कुचल दिया गया। 'हमारी चेतना' और 'हमारी संस्कृति' को हमारे दिमागों में कभी पनपने ही नहीं दिया गया।

किसी भी स्त्री या पुरुष के पूरा मनुष्य होने में उसके बचपन की बुनावट बहुत ही अहमियत रखती है। लेकिन हमारे बचपन को अनवरत अपमान और खामोशी के साथ विकृत किया गया। और इस विकृति पर भी आश्चर्य डाल देने वाली खामोशी बनी रही। हमारी चेतना की संरचना को दबाने के लिए यह एक षडयंत्र ही तो था। सैंकड़ों पीढ़ियों तक हमारे घरों में लिखित शब्द के प्रवेश को हिंसात्मक रूप से रोके रखा गया। हमारा जीवन भी हमारी चेतना को इसी दायरे में कैद करता रहा। आज तक मैं 'स्वतंत्रता' या 'स्वराज्य' जैसे शब्दों को समझने में असमर्थ रहा हूँ। लेकिन स्वतंत्रता के बाद जब हमारे लिए विद्यालयों के द्वार खोल दिये गए तब वहाँ विद्यालयों के अध्यापक हमारे खिलाफ थे। पाठ्य-पुस्तकों की भाषा हमारे खिलाफ थी। हमारे घरों में जो संस्कृति थी, वही संस्कृति हमारे विद्यालयों में नहीं थी। यदि हमारी संस्कृति दलितबहुजन संस्कृति थी तो विद्यालयों की संस्कृति हिन्दू संस्कृति थी। इन दोनों में बेइंतहा फर्क था। इन दोनों संस्कृतियों के मेल-मिलाप का कोई रास्ता नहीं था। सच्चाई ये है कि ये दोनों संस्कृतियां दो अलग-अलग ध्रुव थीं।

हमारे लिए अंग्रेजी पाठ्य-पुस्तकें जो मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' की बात करती थीं, शेक्सपीयर के 'ओथेलो' और 'मैकवेथ' की बात करती थीं या इंग्लैंड की प्रकृति के बारे में विलियम वर्ड्सवर्थ की कविता की बात करती थीं उनमें और तेलुगु की पाठ्य-पुस्तकें जो कालिदास के 'मेघ संदेश' (मेघदूत) की बात करती थीं, वोमेरा पोटन्ना की 'भगवातम' या नान्या और टिक्काना के 'महाभारत' की बात करती थीं-इनमें हमारे लिए कोई अंतर नहीं था-केवल एक पाठ्य-पुस्तक छब्बीस अक्षरों में लिखी जाती है, दूसरी छप्पन अक्षरों में। इनमें हमारे लिए कोई अंतर नहीं था। हम इनकी विषयवस्तु में न तो कोई हिस्सेदारी करते हैं और न ही इनमें हमारा जीवन झलकता है। हम इनमें अपने परिवारों का पता नहीं लगा सकते हैं। इन

पुस्तकों में हमें वे शब्द देखने को नहीं मिलते हैं, जिनसे हम वाकफ हैं। शब्दकोश के बगैर हम इनका कोई अर्थ नहीं जान सकते हैं। चाहे ये पुस्तकें रोमन अक्षरों में लिखी जाने वाली ग्रीक या लातिनी भाषा में लिखी गई हों या फिर तेलुगु में लिखी जाने वाली संस्कृत में लिखी गई हों। हमारे लिए इन पुस्तकों में कोई फर्क नहीं है।

विद्यालय के दिनों से ही उनके पुरुष बच्चे उपनयन के जरिए हिन्दू धर्म में अपनी शुरुआत के बारे में बातचीत करते थे। जिस दिन वे उपनयन के द्वारा अपने शरीर पर सफेद धागा धारण करते उसी दिन उनका पुनर्जन्म माना जाता, जो पहले से कहीं ज़्यादा पवित्र और उंचा होता। हम हमेशा एक ही जन्मे रह जाते। जब हमने पहली बार उपनयन के बारे में सुना तो ऐसे धागे को धारण करने की इच्छा हमारे मन में भी हुई। यह एक अलग बात है कि बाद में हममें से कई लोगों ने उस धागे को गंदे पानी में फेंक दिया, ठीक उसी तरह से जिस तरह बारह वर्ष की उम्र में वासव ने किया था। लेकिन सच्चाई यही है कि सात-आठ साल की उम्र में किसी ऐसे अवसर पर अगर हम घरों के केन्द्र-बिन्दु बने होते और कोई पुजारी हमें धर्म में शामिल करने आता तो हमारा भी आत्मविश्वास बढ़ जाता। केवल इतना ही नहीं बाद में जब हमें यह पता चला कि ब्राह्मण, बनिया और दूसरी ऊंची जाति के परिवारों में चार साल की आयु में ही लिखित अक्षर ज्ञान का शुभारंभ हो जाता है और यह भी एक खास अवसर होता है तो ऐसे में हम अपने आपको ऐसे बातों से दुःखी होने से कितना रोक पाते?

पुराने ज़माने में इस प्रकार के शुभारंभ के बाद तथाकथित ऊंची जाति के लड़कों को गुरुकुलों (ब्राह्मणवादी विद्यालयों) में भेजा जाता था। अब वे उन्हें अंग्रेजी माध्यम वाले कान्वेंट विद्यालयों में भेजते हैं। ये वही विद्यालय हैं जिनसे ये हिन्दू स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में घृणा करते थे। नब्बे के दशक में भी हिन्दुत्ववादी इन विद्यालयों को 'हिन्दू विरोधी' विद्यालयों के रूप में इनकी भर्त्सना करते थे। इसके बावजूद अपने बच्चों के उपनयन के तुरंत बाद वे उनको इन 'हिन्दू-विरोधी' विद्यालयों में भेजते हैं। हिन्दू अंग्रेजी की भर्त्सना करते हैं हालांकि वे अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम वाले विद्यालयों में भेजते हैं। अब तक हमारे भीतर वह चेतना जाग्रत नहीं हुई है कि हम हिन्दू धर्मग्रंथों के द्वारा तेलुगु माध्यम के विद्यालयों के प्रभुत्व का पूरी तरह विरोध कर सकें क्योंकि हमारे पास कोई अन्य विकल्प मौजूद नहीं है। इसलिए हम अपने बच्चों को अभी भी उन्हीं विद्यालयों में भेजते हैं जो प्रत्येक पाठ्य-पुस्तक में केवल पुराणों या प्राचीन महाकाव्यों के बारे में ही पढ़ाते हैं। यह एक विरोधाभास है और हम ऐसे कई विरोधाभासों में जीते हैं।

जब हमें यह बताया गया कि हिन्दू लड़के और लड़कियों की शादी उनके बचपन में ही हो जाती है तो हमें लगा कि हम इन चीजों से परिचित हैं, क्योंकि बाल-विवाह हमारे जीवन का भी हिस्सा है। हमने पढ़ा कि हिन्दुओं में अगर किसी लड़की का पति मर जाता है तो ताउम्र उसे विधवा रहना पड़ता है। उसे अपने केश कटाने पड़ते हैं और सफेद कपड़े पहनने पड़ते हैं। यह सब जानकर हमें बड़ा अजीब लगा। हमारे परिवारों में अगर किसी लड़की के सास-ससुर

उसे ठीक से नहीं रख पाते हैं तो आसानी से तलाक मिल जाता है। कुछ ही दिनों में उसके लिए दूसरा पति मिल जाता है। तलाक भी खास भोजन और मदिरा के साथ ही पूर्ण होता है- जैसे शादी। बचपन में मैंने सावित्री की कहानी पढ़ी थी। सावित्री अपने पति की मौत से संघर्ष करती है ताकि उसे विधवा न होना पड़े। मुझे यह जानकर खुशी होती है कि हमारे यहां लड़कियों को ऐसे संघर्ष नहीं करने पड़ते हैं।

इसी तरह से जब मैंने पढ़ा कि पति के मर जाने के बाद एक हिन्दू औरत को उसी की लाश के साथ सती होना पड़ता है तो मैं बहुत खुश हुआ क्योंकि हमारे स्त्रियों को इस तरह से मरना नहीं पड़ता है। मैं बहुत प्रसन्न हुआ कि इस तरह के धर्म से हमारा कोई वास्ता नहीं है, क्योंकि अगर कभी अकस्मात मेरे पिता की मृत्यु हो जाए तो मेरी मां को मरना नहीं पड़ेगा। यदि मेरी मां चाहे तो मेरे लिए दूसरा पिता ला सकती है। अब मैं इन इतिहास की और तेलुगु की पाठ्य-पुस्तकों का क्या करूं? इनमें उन औरतों की कहानियां भरी पड़ी हैं जो अपने पति की मृत्यु के बाद सती हो गई थीं। लेकिन इन पुस्तकों में ऐसा एक भी कोई अध्याय नहीं है जिसमें हमारी उन औरतों का जिक्र हो जो अपने पति की मृत्यु के बाद भी जीवित रहती हैं, काम करती हैं, अपने बच्चों का पालन-पोषण करती हैं और उनके शादी-विवाह करती हैं। इन पाठ्य-पुस्तकों का कोई अध्याय ऐसा नहीं है जिसमें उस औरत का जिक्र हो जिसके लिए तलाक पाना कठिन काम रहा हो और जिसने तलाक पाने के लिए कठिन संघर्ष किया हो। उन माता-पिताओं के बारे में भी इनमें कोई अध्याय नहीं है जिन्हें अपनी उन बेटियों के तीन-चार विवाह करने पड़े हों जिनके सारे पति खराब आदमी निकले हों। उनके रास्ते में आने वाली दिक्कतों का इन पुस्तकों में कोई जिक्र नहीं है। किसी भी पाठ्य-पुस्तक में कोई ऐसा नीतिपूर्ण अध्याय नहीं है जिसमें उन साहसी माता-पिता का जिक्र हो जिन्होंने कभी अपनी अपनी बेटियों को मौत के मुंह में नहीं जाने दिया। पाठ्य-पुस्तकों की नैतिकता हमारी जीवंत नैतिकता से भिन्न थी।

इन सब कहानियों और पाठों में हमने आदर्श पुरुषों और स्त्रियों के बारे में और उस संस्कृति के बारे में पढ़ा जो हमसे काफी भिन्न थी। हिन्दू पाठ्य-पुस्तकों में वही व्यक्ति ज्ञानी था जो वेदों के बारे में जानता था, साहसी आदमी वही था जो अपने दुश्मनों का सफाया कर सकता था, भले ही दुश्मन उसके अपने मित्र या संबंधी ही क्यों न हों। 'रामायण' और 'महाभारत' में ज्ञान और वीरता को इन्हीं मूल्यां में व्याख्यायित किया गया है। लेकिन हमारी असली जिन्दगी में वही आदमी ज्ञानी माना जाता है जो सामाजिक क्रिया-कलापों की समझ रखता है- यानी जो भेड़ पालन जानता हो, खेती-बाड़ी और रस्सी बनाना जानता हो, जो पशुओं और मनुष्यों की बीमारियों को जानता हो और उनका इलाज कर सकता हो। वीर पुरुष वह है जो बाघ, शेर, सांप और जगली भैंसे से लड़ाई कर सकता हो, जो घने जंगलों में यात्रा कर सकता हो, तैर सकता हो और खोई हुई बकरियों और भेड़ों को खोज सकता हो।

हिन्दू आदर्श और हमारे आदर्श

ब्राह्मणवाद और परिवारों में नायक-नायिकाओं के विभिन्न आख्यान मौजूद हैं। लेकिन इनमें मानवीय संदर्भों का अभाव है। इसकी वजह ये है कि ये ब्राह्मण परिवार उस सामाजिक वातावरण से दूर हैं जिसमें किसी वास्तविक नायक या नायिका का निर्माण होता है। उसकी सामाजिक हैसियत श्लोकों या मंत्रों को कुशलतापूर्वक पढ़ने या उनका वाचन करने में निहित है। रामायण और महाभारत या गीता को पूरा याद कर लेना ही उनके लिए सबसे बड़ी उपलब्धि है। नारीत्व की चर्चा का संदर्भ यही होता है कि वह अपने पति के प्रति कितनी समर्पित है, या वह खाना पकाते वक्त शुद्धता और पवित्रता का ध्यान रखती है अथवा नहीं। वास्तव में ब्राह्मणवादी संस्कृति नकारात्मक नायकों और नकारात्मक नायिकाओं का निर्माण करती है। उदाहरण के लिए कृष्ण किसी को अपने ही संबंधियों की हत्या करने के लिए प्रेरित करता है, तो वह नायक है। अपने ही संबंधियों को मारने वाला अर्जुन नायक है। इन कथाओं में निजी सम्पत्ति (पूरा महाभारत केवल भूमि के इर्द-गिर्द घूमता है, जो ऐसे अल्पसंख्यकों की मिल्कियत बनती जा रही है, जो उत्पादन से जुड़े हुए नहीं हैं) प्राप्त करने को ही आदर्श बताया गया है।

शूद्रवाद में स्थिति इसके ठीक विपरीत है। आदर्श नायक और नायिकाएं जीवन की अनगिनत स्थितियों से पैदा होते हैं। प्रकृति के साथ उनके रोजाना के व्यावहारिक व्यवहार से उनके चरित्र निर्माण होते हैं। किन्ही भी कारणों से जो अपने सगे-संबंधियों की हत्या करता है या अपराध करता है, वह बुरा आदमी माना जाता है। दूसरों की हत्या करने के लिए जो उकसाता है उसे भगवान नहीं शैतान माना जाता है और उसकी भर्त्सना की जाती है। पोचम्मा हमारी नायिका इसलिए नहीं बनी कि वह किसी की हत्या करती है और पोटाराजु भी नायक इसलिए नहीं बना कि वह किसी की हत्या करता है। वे हमारे नायक हैं क्योंकि वे बीमारियों से, भूख और ऐसी ही मुश्किलों से हमें बचाते हैं। हिन्दू पाठ्य-पुस्तकों में आदर्श नारी वह होती है जो बूढ़ी औरतों और किसी भी उम्र के आदमी के सामने खाती-पीती नहीं है। एक औरत से यह आशा नहीं की जाती है कि वह धूम्रपान करे या शराब पीये, भले ही उसका पति खूब धूम्रपान करता हो या शराबी हो। हमारी सभी स्त्रियां पुरुषों के साथ ताड़ी पीती हैं या शराब पीती हैं। हमारी औरतें घरों और खेतों में चुट्टा (पत्तियों और तम्बाकू से बनी बीड़ी) पीती हैं। वे हर तरह से कमोवेश पुरुषों के बराबर तनने की कोशिश करती है।

हम सब हिन्दू हैं, जो लोग ऐसा कहते हैं, उन्हें यह जरूर बताना चाहिए कि कौन सी नैतिकता हिन्दुओं की नैतिकता है। किन मूल्यों को- वे सही मूल्यों के रूप में मानते हैं? ऊंची जाति के हिन्दुओं के असमान और अमानवीय हिन्दू सांस्कृतिक मूल्यों को या हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को? आज समाज का आदर्श क्या है? आज के बच्चों को हम क्या सिखाएं? क्या हम उन्हें वह सिखाएं जो हिन्दुओं ने हमें सिखाया है या वह जो इस देश के दलितबहुजन सीखना चाहते हैं। एक आदर्श शिक्षक कौन है? अच्छा नायक कौन

है? वह जो तरह-तरह की फसलें उगा सकता है, शेरों और बाघों का सामना कर सकता है या वह जो अपने ही सगे-संबंधियों और दोस्तों की हत्या कर देता है। इसका सीधा-सा जवाब है कि ऊंची जातियों जो सोचती हैं वह धर्म है और दूसरे जो सोचते हैं वह अधर्म है। हम कहां से शुरू करें और कहां खत्म करें? हमें अपने इतिहास के निर्माण से आरंभ करना चाहिए और इस समाज व्यवस्था को बदलकर ही अंत करना चाहिए।

ब्राह्मण-बनिया सोचते हैं कि गैर-उत्पादकीय रीति-रिवाजपूर्ण जीवन ही महान है और दलितबहुजनों की गैर-रीति-रिवाजपूर्ण जिन्दगी घटिया है। यह भिन्न दृष्टिकोण दोनों समुदायों के बच्चों का भिन्न रूप में निर्माण करता है। ब्राह्मण-बनिया जैसी ऊंची जातियों के बच्चे सोचते हैं कि उनकी नस्ल बड़ी है और बेहतर ढंग से सुसंस्कृत है। यह दावा लगातार इतनी बार दोहराया जाता है कि हमारी मानसिकता भी ऐसी ही बन गई है कि मानो यही सच है। इस प्रकार ब्राह्मणवाद ने समाज में अपनी एक मजबूत सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति बना ली है। हमारे माता-पिता के लिए शिक्षा निषिद्ध थी। शिक्षा के द्वारा ही वे वास्तव में अपनी स्थिति मजबूत बनाने में सक्षम हो सकते थे। इसलिए ब्राह्मण की भले ही समाज में कैसी स्थिति क्यों न रही हो, उसे 'अय्यागुरु' का दर्जा दिया गया। उन्होंने हमारे माता-पिता के लिए जो तय किया वह हमें भी सौंप दिया गया। हमारे भीतर बड़े से बड़े कौशल मौजूद हैं। इस तथ्य के बावजूद बचपन से हम लोग आत्मसंशयी रहे हैं। एक बार जब ब्राह्मणवाद ने उन लोगों को हतोत्साहित कर दिया, जो उससे ज्यादा शक्तिशाली और सुदृढ़ थे तो वह आत्म-संशयता पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती चली आई। हम में से सभी ने, सारी दलितबहुजन आबादी ने चीजों को उलट-पुलट होते हुए देखा है।

ब्राह्मण और बनिया मंदिर हमसे केवल दूर ही नहीं थे, बल्कि उनमें बैठने वाले और सोने वाले देवता भी पूरी तरह हमारे खिलाफ ही बने थे। हमारे गांव के अन्दर बनियों और ब्राह्मणों के घर बने हुए थे लेकिन उन्हीं घरों में ऐसी संस्कृति पली-बढ़ी जो हमारी संस्कृति के खिलाफ थी। ब्राह्मण-बनिया हमारी लाशों पर चहलकदमी करते रहे हैं। उनके पास भोजन का अंबार था जब कि हमारे माता-पिता भूखे रह कर उनकी हर सुविधा का ख्याल रखते थे। उनके बच्चे नालायक और पेदू थे, और हमारे बच्चे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में सहायता करने वाले थे। जीवन की उनकी धारणा खुद जीवन के लिए बेमानी थी। लेकिन वह बार-बार दुहराते रहे कि हमारे माता-पिता एकदम निकम्मे लोग थे। जीवन के इन तमाम चरणों से गुजरने के बाद और दुनिया को देखने का व्यापक नजरिया देने वाली शिक्षा प्राप्त करने के बाद आज जब हम अपने बचपन और उसकी प्रक्रियाओं पर नज़र दौड़ाते हैं तो हमें लगता है कि वहां सिर्फ गुस्सा और व्यथा है। उसके अलावा कुछ भी नहीं। वही दुःख और गुस्सा हमारे दिलों में सुलग रहा है।

साभार : मैं हिंदू क्यों नहीं

तुम्हारी जोंकों की क्षय

■ राहुल सांकृत्यायन

जोंकें? - जो अपनी परवरिश के लिए धरती पर मेहनत का सहारा नहीं लेती। वे दूसरों के अर्जित खून पर गुज़र करती हैं। मानुषी जोंकें पाशविक जोंकों से ज्यादा भयंकर होती हैं। इन्होंने मानव-जीवन को कितना हीन और संकटपूर्ण बना दिया, इसका जिक्र कुछ पहले हो चुका और आगे भी कुछ करेंगे। इन जोंकों की उत्पत्ति कैसे हुई? आरंभिक मनुष्य असभ्य था, वह जंगल में रहता था। लेकिन अपनी जीविका वह धरती में खोजता था। वह शिकार करता था। वह जंगल में फल तोड़ता था, लेकिन दूसरे की कमाई, दूसरे के खून को चूस कर गुज़ारा करना पसन्द नहीं करता था। आत्मरक्षा के लिए वह अपना नेता भी बनाता था। समाज का साधारण संगठन भी करता था। लेकिन चूसने वाले के लिए वहां स्थान न था। शिकारी अवस्था से मनुष्य पशु-पालक की अवस्था में आया। अब भी उनके नायक और शासक खुद अपनी भेड़ और गायें रखते थे। हाँ, अब कभी-कभी एक-आध भेड़-गाय उनके पास पहुँचने लगी और इस प्रकार बहुत हल्के रूप में मानुषी जोंकों का आविर्भाव हुआ। कृषक की अवस्था में पहुँचने पर नेता और शासकों का प्रभाव और बढ़ा। उन्होंने राजा का रूप धारण करना शुरू किया। यद्यपि पहले समाज की आत्मरक्षा के लिए शस्त्र और शासन की सुव्यवस्था का भार उन पर सौंपा गया था और उनका पद तभी तक सुरक्षित था जब तक कि उन कार्यों के संचालन की योग्यता उनमें मौजूद रहती। योग्यता द्वारा निर्वाचित राजा भेंट और कर में अधिक धन एकत्र करने में सफल हुआ और इस प्रकार योग्यता के अतिरिक्त धन की शक्ति उसके हाथ आई। अब जहाँ वह अपने शासक और नेता होने के जरिये लोगों पर प्रभाव डालता था, वहाँ धन का प्रलोभन देकर के भी कुछ लोगों को अपनी ओर खींच सकता था। इस तरह वह जहाँ कितने ही अत्याचार भी करने का साहस रखता था, वहाँ साथ ही यह भी कोशिश करने लगा कि उसके बाद उसका स्थान उसके लड़के को मिले। शताब्दियों के प्रयत्न से योग्यता का सबब भाड़ में चला गया और राजा की ज्येष्ठ संतान राजा बनने लगी। संपूर्ण राज-परिवार का खर्च दूसरों के ऊपर लदने लगा। इन जोंकों ने यही नहीं कि अपनी परवरिश दूसरों की कमाई से चलाना शुरू की, बल्कि कितने ही धरती से धन उपजाने वाले को भी नौकर-परिचारक रखकर समाज को उनके श्रम से वंचित रक्खा। खानदानी राजा तब तक इस प्रकार शोषण, निठल्लापन और अपनी वासना-तृप्ति के लिए तरह-तरह की गन्दगी फैलाते रहते जब तक कि जनता को ऊबते देखकर कोई सेनापति या मन्त्री राजा का वध कर नये राजवंश की नींव नहीं डालता। जब से राजा अधिक सम्पत्ति, का स्वामी और गैर-जवाबदेह शासक बनने लगा, तब से 'यथा राजा तथा प्रजा' का अनुकरण करते हुए कितने ही लोग स्वयं भी जोंक बनकर आराम से सुख और चैन की जिन्दगी बसर करने लगे। राजा भी प्रलोभन दे-देकर उन्हें इसके लिए उत्साहित करते थे। धरती से धन पैदा

करने वाले का स्थान समाज में बहुत नीचा हो गया था और राजा, राजकुमार, पुरोहित, मंत्री, सामंत ही नहीं, बल्कि उनके परिचारक भी धन कमाने वालों से अधिक सम्मानित समझे जाते थे। शारीरिक श्रम को बहुत हेय दृष्टि से देखा जाता था। अब जोंकों की एक और श्रेणी भी पैदा हो गई जो कारीगरों और किसानों द्वारा उत्पादित चीजों के क्रय-विक्रय का काम करती थी। इन साधारण बनियों ने लाभ-वृद्धि के साथ-साथ अपने काम को भी अधिक विस्तृत और सुव्यवस्थित किया। इनके बड़े-बड़े दल (कारवाँ) देश के एक कोने की चीजें दूसरे कोने में पहुंचाते और आँख मूंद कर नफा कमाते थे। राजा, राजकुमारों के बाद अपनी राज-सेवा के उपहार में जिन मन्त्रियों और सेनानायकों को बड़ी-बड़ी जागीरें मिलीं, वे भी महत्वपूर्ण स्थान रखते थे, और उनके बाद नम्बर था बनियों का। समाज में अब भी पुराना भाव कभी-कभी मौज मारता था जबकि किसान की कमाई को सबसे शुभ कमाई समझा जाता था। राजचाकरी और वाणिज्य को निम्न श्रेणी की जीविका मानते थे, लेकिन दुनिया का सुख और वैभव तो उसी के लिए है जिसके पास धन है, चाहे वह धन किसी भी तरह प्राप्त किया गया हो। राजकार्य और व्यापार की तो बात ही क्या, सूद के लाभ-जिसे कि पाप का धन अभी हाल तक समझा जाता रहा है- को भी कोई छोड़ने के लिए तैयार न था। सामन्त दासों और अर्द्ध-दास किसानों की पलटन से खेती कराते तथा कारीगरों से बेगार में चीजें तैयार कराते। व्यापारी स्थल और जलमार्ग से व्यापार ही नहीं करते थे, बल्कि कभी-कभी कुछ कारीगरों को जमा कर उनसे वाणिज्य की कितनी ही चीजें भी बनवाते थे। बिना मेहनत की कमाई अब सबसे इज्जत की कमाई हो गयी थी। और क्यों न हो, जब कि हज़ारों बरस से पुरोहित लोग खुद इस लूट के नफे से मौज करते आ रहे थे। उन्हीं के हाथ में भले-बुरे की व्यवस्था थी।

बढ़ते-बढ़ते अवस्था जब यहाँ तक पहुंची तो समझा जाने लगा कि राजा अपनी पुरानी तपस्या का उपभोग करने या खुदा की न्यामत को हासिल करने के लिए धरती पर आया है, तब बहुत हुआ तो राजवंश के संस्थापक प्रथम व्यक्ति ने कुछ योग्यता का परिचय दिया और उसके उत्तराधिकारी-चाहे योग्य हों या अयोग्य, सिर्फ भोग-विलास के लिए राजसिंहासन पर बैठते थे। मुफ्त के भोग-विलास को देखकर किसके मुँह में पानी न भर आता। और उसके लिए जब राजा लोग आपस में लड़ने लगते, तो योग्य सेनानायकों का महत्व बढ़ना जरूरी था। फिर उनकी जागीरें बड़ीं और हालत यहां तक पहुँची कि राजा सामन्तों के हाथ की कठपुतली हो गया।

शिकार और कृषि के साथ पहले जोंकों का जन्म होता है। राजशाही युग में उनकी संख्या कुछ बढ़ती है। और राजकुमार, राजकर्मचारी, व्यापारी तथा इनके परिचारक जोंकों की श्रेणी में शामिल होकर संख्या को और बढ़ा देते हैं। जब राजा सामन्तों के हाथ की

कठपुतली हो जाते हैं, तब सामन्तों की स्वेच्छाचारिता का पृष्ठपोषण करना भी अपना कर्तव्य समझते हैं-ऐसी सामन्तशाही के युग में जोंकों की संख्या कई गुना बढ़ जाती है। इस युग के अन्त होने के समय यूरोप के बनियों को अपना प्रभाव बढ़ाने का नया मौका मिलता है। “वाणिज्ये बसते लक्ष्मीः” की कहावत प्रसिद्ध ही है। इंग्लैंड के व्यापारी भी पुर्तगाल, स्पेन आदि के व्यापारियों की देखादेखी दुनिया के दूर-दूर देश में व्यापार करने लगे। इंग्लैंड में उनके पास अपार सम्पत्ति जमा होने लगी। यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में व्यापार के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी, तो भी धरती का बहुत-सा हिस्सा अछूता था और सभी साहसियों के लिए कहीं न कहीं काम का क्षेत्र मौजूद था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप के व्यापारियों में अंग्रेजों ने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। उनके पास दुनिया में सबसे अधिक बाजार थे। उनके माल से भरे जहाज इंग्लैंड से बाजारों को और बाजारों से इंग्लैंड को छः-छः महीने चलकर पहुंचते थे। उस समय की लकड़ी की नावों - जिन्हें पाल और पतवार के सहारे एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जाता था- में यात्रा बड़ी संकट की थी, लेकिन अपार नफे के सामने संकट क्या चीज़ थी। व्यापारियों को सबसे अधिक चिन्ता थी- अधिक से अधिक परिमाण में माल कैसे तैयार हो। इसी समय इंग्लैंड में इंजिन का आविष्कार हुआ। भाप से चालित यन्त्र अधिक परिमाण में और ज़्यादा तेजी के साथ माल तैयार करने लगा। इंजिनों को रेल और जहाज में लगा देने पर लम्बी-लम्बी यात्रायें भी छोटी हो गईं और खतरा तथा परतन्त्रता भी कम होती गई।

यन्त्रों के आविष्कार से, उनके द्वारा बनी चीजों की अपेक्षा हाथ की बनी चीजें महंगी पड़ने लगी और हाथ के कारीगर बेकार होने लगे। बेकारी से कुपित होकर कारीगरों ने कितने ही कारखानों को तोड़ा, जगह-जगह बलवे हुए। लेकिन अब व्यापारियों की शक्ति साधारण नहीं रह गई थी। धन के कारण राजदरबारों में उनका प्रभाव और सम्मान सामन्तों की तरह होने लगा था और धन के बल पर शासन-यन्त्र पर वह अपना अधिकार जमा रहे थे। जिस यन्त्रचालित कारखानेदार-पूँजीपति के पीछे राजशक्ति थी, उसका मुकाबला ये कारीगर क्या करते? धीरे-धीरे उनके बलवे तो ठंडे पड़ गये जिसमें दमन के अतिरिक्त एक यह भी कारण था कि यान्त्रिक कारखाने मुख्यतः इंग्लैंड में ही स्थापित हुए थे और इंग्लैंड के पास सारी दुनिया का बाजार पड़ा हुआ था। इस प्रकार वहां के पूँजीपति सभी कारीगरों को बेकार न करके उन्हें नये-नये कारखानों में लगाते जाते थे। जैसे ही जैसे व्यापार चमकता गया वैसे ही वैसे पूँजीपतियों के पास अपार धनराशि जमा होती गई। वहां का राज शासन भी पूँजीपतियों के हाथ में चला गया और राजशाही या सामन्तशाही सरकार की जगह पूँजीवादी सरकार स्थापित हुई। इसका पवित्र कर्तव्य था पूँजीपतियों के स्वार्थों की रक्षा करना।

इस नई आर्थिक व्यवस्था से संसार में तरह-तरह की उथल-पुथल होने लगी। देश के श्रमिक पूँजीपतियों के अर्थदास बनने लगे। जिन देशों पर पूँजीवादियों का शासन था, वहाँ पर भी उसी स्वार्थ को सामने रखकर काम लिया जाने लगा। इंग्लैंड में सामन्तशाही का स्थान पूँजीशाही ने ले लिया था, किन्तु हिन्दुस्तान में उस वक्त तक सामन्तशाही ही चल रही थी। तो भी अंग्रेजी पूँजीशाहों ने अपने देश की तरह हिन्दुस्तान से सामन्तशाही को लुप्त होने नहीं दिया। उसी

का परिणाम है कि यद्यपि सारे भारतवर्ष पर अंग्रेजी पूँजीशाही का शासन है तो भी भीतर में सामन्तशाही को रियासतों और बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों के रूप में कायम रक्खा गया है। पूँजीवाद मनुष्यों को अर्थदास बनाता है और बराबर बेकारी पैदा करके उन्हें नरक की यातना में डकेलता है, यह बात तो अब स्पष्ट हो चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक बाजारों और साम्राज्य के विस्तार के लिए आपस में लड़ती यूरोप की राजशक्तियों ने यह भी दिखला दिया था कि पूँजीवाद युद्धों का प्रधान कारण है। इसी समय जर्मनी में एक विचारक पैदा हुए जिसका नाम था कार्ल मार्क्स। उसने बतलाया कि बेकारी और युद्ध पूँजीवाद के अनिवार्य परिणाम रहेंगे बल्कि जितना ही पूँजीवाद की संरक्षकता में यंत्रों का प्रयोग बढ़ता जायेगा, बेकारी और युद्ध उतना ही भयानक रूप धारण करते जायेंगे- उसने इससे बचने का एक ही उपाय बतलाया- साम्यवाद। जर्मनी, फ्रांस- जहाँ भी उसने अपने इन विचारों को प्रकट किया, वहां की सरकारें उसके पीछे पड़ गईं। पूँजीपति समझ गये कि साम्यवाद उनकी जड़ें काटने के लिए है। उसमें तो सारी सम्पत्ति का मालिक व्यक्ति न होकर समाज रहेगा। उस वक्त हर एक को अपनी योग्यता के मुताबिक काम करना पड़ेगा और आवश्यकता के मुताबिक जीवन-सामग्री मिलेगी। सब के लिए उन्नति का मार्ग एक-सा खुला रहेगा। कोई किसी का नौकर और दास नहीं रहेगा। भला धनी इसे कब पसन्द करने वाले थे? लेकिन अभी तक मार्क्स के विचार सिर्फ हवा में गूँज रहे थे। मजदूरों पर उनका असर बिल्कुल हल्का-सा पड़ रहा था, इसलिए पूँजीवादियों का विरोध तेज न था- खास करके जबकि उन्होंने देखा कि एक समय के आग उगलने वाले प्रलोभनों को हाथ में आया पाकर वे पूँजीवाद के सहायक बन सकते हैं। दुनिया के जोंकों ने समझा कि साम्यवाद हमेशा हवा और आसमान की चीज रहेगा और उसे कभी ठोस ज़मीन पर उतरने का मौका नहीं मिलेगा।

पूँजीवाद धीरे-धीरे हर मुल्क में बढ़ रहा था। यूरोप में तो उसकी गति बड़ी तेज थी। अंत में सिपाहियों का देश जर्मनी भी उसकी बाढ़ से न बच सका। बल्कि प्रतिभाशाली जर्मनों ने यन्त्रों के आविष्कार और प्रयोग में और भी अधिक योग्यता दिखलायी। पूँजीवादी सरकारों ने दांव-पेंच लगाकर दुनिया के हिस्से-बखरे कर लिए। जर्मनी ने देखा कि उसके लिए तो कहीं जगह नहीं। इसके लिए उसने वर्षों की तैयारी की, क्योंकि वह जानता था कि हथियार के बल पर उसे नया बाजार मिल सकता है। इसी आकांक्षा, इसी तैयारी का परिणाम था 1914 ई. का महायुद्ध। पूँजीवादी फैक्ट्रियों में गरीबों का खून चूसकर तृप्त न थे। वे बाजार और नफा लूटने के लिए बड़े पैमाने पर नर-संहार करना चाहते थे। जो कहते हैं कि महायुद्ध ऑस्ट्रिया के युवराज की हत्या के कारण हुआ था, वे या तो भोले-भाले हैं या जान-बूझकर झूठ बोलते हैं। युद्ध हुआ था जोंकों की खून की प्यास के कारण। जर्मनी की जोंकें परास्त हुईं। फ्रांस और इंग्लैंड की जोंकें विजयी। इन जोंकों की लड़ाई में एक फायदा हुआ कि दुनिया के छठे हिस्से-रूस से जोंकों का राज उठ गया। अब वहां ईमानदारी से कमाकर खाने वालों का राज है। आरम्भ में दुनिया की जोंकों ने पूरी कोशिश की कि वहां साम्यवादी शासन न होने पाये। लेकिन रूस के मजदूरों और किसानों ने हर तरह की कुर्बानी करके, जान पर खेलकर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की। लेनिन के नायकत्व में संस्थापित रूस की साम्यवादी सरकार आज दुनिया की जोंकों की आंखों में कांटे की तरह चुभ रही है।

सारा पूंजीवादी जगत देख रहा है कि दुनिया के सभी मजदूर-किसान रूस की तरफ स्नेह भरी निगाह से देखते हैं और उससे अन्तः प्रेरणा ले रहे हैं।

महायुद्ध के अन्त में जोंकों की रक्त-पिपासा के नंगे नाच को देखकर तथा रूस की क्रान्ति से प्रभावित होकर यूरोप के कितने ही देशों के मजदूरों में साम्यवाद का जोर बढ़ा। सामग्री तैयार थी, उसका उपयोग करके वहां भी साम्यवादी शासन स्थापित करने के लिए। लेकिन श्रमजीवियों का नेतृत्व जिन कमजोर दिल वाले शिक्षितों के कन्धों पर था, उन्होंने अपनी कायरता और कमजोरी को जनता के मत्थे मढ़ा और इस प्रकार श्रमजीवी-जागृति का वह वेग विश्रुंखलित हो गया। पूंजीपतियों और अवसरवादियों ने उस अवसर से फायदा उठाया। पूंजीपति महत्वाकांक्षी साम्यवादी नेताओं-जो कि आपस की होड़ और अनबन के कारण अपने लिए किसी बड़ी चीज की आशा न रखते थे- को आसानी से अपनी ओर मिला सकते थे, इसके लिए सिर्फ दो चीजों की जरूरत थी : एक तो आदर्श-द्रोही नेता को नेतृत्व दे दिया जाये और इसमें पूंजीवाद को कोई नुकसान तो था नहीं, दूसरे उसी थैली से मदद दी जाये और यह बात भी पूंजीपतियों के लिए कड़वी नहीं थी, क्योंकि उनके हाथ से सारी की सारी थैली को मजदूर छीन लेने वाले थे। इस प्रकार पूंजीवाद ने नया रूप 'फासिज़्म' धारण किया। उसने असली उद्देश्य को छिपाकर सामन्तशाह के विनाशक पूंजीवाद के हथकड़े इस्तेमाल किये और राष्ट्रीयता के नाम पर जनता को अपने झंडे के नीचे एकत्रित होने के लिए आवाहन किया। वर्षों से मजदूर और किसान अपने शिक्षित मध्यम श्रेणी के साम्यवादी नेताओं की कायरता और विश्वास से तंग आ गये थे। उन्होंने फासिज़्म को राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन का संदेशवाहक समझ कर मदद दी, और, इस प्रकार फिर से पूंजीवाद ने अपने को मजबूत किया। शोषकों और शोषितों को कायम रखने वाले फासिज़्म श्रमिकों के दुःखों को भीतर से दूर नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने दूसरे देशों पर नज़र गड़ायी। इटली में फासिज़्म के जन्म का यही इतिहास है।

जर्मनी की जोंकें भी महायुद्ध में पराजित हुईं, लेकिन विजेता कभी यह नहीं चाहते थे कि पराजित जोंकें बिल्कुल नष्ट कर दी जाएं। वह जानते थे कि जर्मनी में जोंकों का लोप इंग्लैंड और फ्रांस पर पूरा प्रभाव डालेगा। इसलिए उन्होंने उन्हें जीते रहने दिया। लड़ाई के बाद जर्मनी के श्रमजीवी भी अपने देश की जोंकों के अत्याचार को देखते-देखते तंग आ गये थे और उनमें बड़ी जागृति हुई तो भी शब्द के प्रयोग में प्रवीण, किन्तु मैदान में अत्यंत कायर शिक्षित नेतागण ने उन्हें धोखा दिया और वे स्वर्ण-युग को लाने का दिलासा दे-देकर दिन बिताते रहे। जोंकें इतनी बेवकूफ न थीं। वे अवसर ताक रही थीं। जब साम्यवादी इस तरह अपने कीमती समय को बर्बाद कर रहे थे, उस समय जोंकें भी मनसूबे बांध रही थीं। युद्ध के बाद की घटनाओं को देखकर पूंजीवादियों को विश्वास हो गया कि उनके स्वार्थों की रक्षा वही कर सकता है जो स्वयं श्रमजीवी-श्रेणी का हो और जिसके दिल में पूंजीवादी श्रेणी के अस्तित्व की आवश्यकता ठीक जंचती हो। नात्सिज़्म ने जर्मनी में जातीय पराभव और अपमान के नाम पर लोगों को अपनी ओर खींचना शुरू किया। पूंजीवादियों ने हिटलर के भूरी कमीज वाले संगठन को दृढ़ करने के लिए अपनी थैलियां खोल दीं। नेताओं के विश्वासघात से पीड़ित और कर्तव्यविमूढ़ श्रमजीवी-श्रेणी धीरे-धीरे हिटलर के फरेब में फंसने लगी और 1933 तक उसने अपनी

शक्ति इतनी मजबूत कर ली कि शासन की बागडोर उसके हाथ आ गई। हिटलर के शासन के चार वर्षों -1933 से 1937 के बीच मजदूरों की जीवन-वृत्ति जर्मनी में आधी हो गई और पूंजीपति चैन की बांसुरी बजाने लगे तो भी पूंजीवाद के नये अवतार फासिज़्म और नात्सिज़्म श्रमजीवी जनता की आंख में धूल झोंकना अच्छी तरह जानते हैं। हिटलर ने जर्मनी के स्वाभिमान को लौटाने और वृहत्तर जर्मनी के निर्माण का प्रोग्राम उनके सामने रक्खा। फ्रांस और इंग्लैंड का पूंजीवाद पूंजीपतियों के वैयक्तिक स्वार्थ और अदूरदर्शिता के कारण श्रमजीवी जनता को अपनी ओर उतना खींच नहीं सकता था, इसलिए उन्हें फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ता था। उधर जर्मनी पूंजीपतियों के स्वार्थ को आंख से ओझल रखकर राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा को जबर्दस्त शराब पिला रहा था। दोनों ही तरफ जोंकों के स्वार्थ का सवाल था, और दोनों ही तरफ की जोंकें अपने-अपने स्वार्थ के लिए जबर्दस्त तैयारियां कर रही थीं।

तीन वर्ष की तैयारी के बाद हिटलर ने जर्मन-स्वाभिमान लौटाने के लिए सबसे पहले कुछ करना चाहा। जापान ने मंचूरिया को हड़प कर दिखला दिया था कि इंग्लैंड, फ्रांस और अमेरिका के पूंजीवादी आपस में असहमत और लड़ाई के लिए तैयार नहीं हैं। वह फ्रांस और इंग्लैंड के भीतर मतभेदों को भी जानता था और समझता था कि इंग्लैंड सिर्फ अपनी पगड़ी बचाना चाहता है। यही समझकर 7 मार्च, 1936 ई. को हिटलर ने जर्मन फौजें राइनलैंड में उतार दीं और फ्रांस तथा इंग्लैंड मुंह ताकते रह गये। दो बरस चार दिन बाद-जबकि मुसोलिनी अबीसीनिया में इंग्लैंड की कलाई खोल चुका था-11 मार्च 1938 को हिटलर ने ऑस्ट्रिया को हड़प लिया। बाहर की जोंकें तिलमिला कर रह गईं। लेकिन जर्मन जोंकों की प्यास न इतने से बुझ सकती थी और न जर्मन जनता को चिरकाल तक माखन छोड़ आलू खाने के लिए तैयार रखा जा सकता था। आलू खाने को राजी रखने के लिए न जाने अभी हिटलर को और कितने काण्ड करने होंगे। 1 अक्टूबर 1938 ई. को हिटलर ने सुडेटेनलैंड को चेकोस्लोवाकिया से छीन लिया और 15 मार्च 1938 ई. को सारी चेकोस्लोवाकिया को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। दुनिया भर की जोंके अगले युद्ध के लिए जबर्दस्त तैयारियां कर चुकी हैं। अगले युद्ध के नर-संहार के सामने पिछला महायुद्ध कोई अस्तित्व नहीं रखेगा। जर्मनी के पास जहां अब आठ करोड़ आदमी जोंकों के लिए नये बाज़ार पर कब्जा करने के वास्ते खून बहाने को तैयार हैं, वहां उसने हवाई, सामुद्रिक और स्थानीय युद्धों के लिए भयंकर अस्त्र-शस्त्र तैयार कर रखे हैं। अब उसके हवाई जहाजों की एक चढ़ाई में पौन करोड़ आबादी का लंदन निर्जन हो सकता है। लड़ाई में मरने वाले सिर्फ सैनिक नहीं रहेंगे, अब तो मरने वालों में अधिक संख्या होगी निरपराध नागरिकों की। कोई बूढ़े-बच्चों की परवाह नहीं करेगा। सभी जोंकें बड़े जोश के साथ संसार में प्रलय लाने की तैयारियां कर रही हैं। जिस वक्त मनुष्य जाति ने अपने भीतर पहली जोंक पैदा की थी, उस वक्त उसे क्या मालूम था कि जोंकें बढ़कर आज उसे यह दिन दिखायेंगी। इसके विनाश के बिना संसार का कल्याण नहीं। जोंकों! तुम्हारी क्षय हो!

साभार : तुम्हारी क्षय

मोहम्मद युनूस क्यों दुखी है? महासूदखोरों को जन्म देती माईक्रोक्रेडिट योजना!

■ सुभाष गाताडे

स्वयंसेवी संस्था के तौर पर कभी शुरू हुई मेक्सिको की कोम्पार्टामोस के नाम से धरती के इस हिस्से में बहुत कम लोग वाकिफ होंगे। स्वयं सहायता समूहों (सेल्फ हेल्प ग्रुप्स) के निर्माण या लघुवित्त योजनाओं के संचालन जैसे कामों में कभी यह संस्था भी मुब्तिला थी। मगर आज वह अरबों डॉलर की कम्पनी है। वर्ष 2007 में इसका नाम अधिक सुखियों में आया जब यह बात उजागर हुई कि अपने इन शुरुआती प्रयासों में निहित लाभ की सम्भावनाओं को बहुत पहले पहचान कर उसके द्वारा निर्मित कम्पनी ने स्टॉक मार्केट में निवेशकों के जरिए 458 मिलियन डॉलर इकट्ठा किया।

यू तो कोम्पार्टामोस के संस्थापकों ने यह वायदा किया कि वह इस पैसे को विकास के क्षेत्र में ही लगाएंगे, मगर पश्चिमी गोलाद्ध की इस सबसे बड़ी लघुवित्त संस्थान की यह 'कामयाबी' जो इसके द्वारा लिए जाने वाली सूद की दर और उसने बनाए मुनाफे पर टिकी थी, एक तरह से दुनिया भर की वित्तीय संस्थानों एवं बैंकों के लिए एक तरह का संकेत थी कि 'सामाजिक निवेश' कही जाने वाली इस योजना में मुनाफे की गंगा बह रही है।

साफ है कि सूद एवं फीस के तौर पर सालाना 82 फीसदी लेने वाली कोम्पार्टामोस इस मामले में अकेली संस्था नहीं है। मेक्सिको की एक अन्य संस्था टे क्रीमोस तो 125 फीसदी सूद लेती है। जानकारों के मुताबिक मेक्सिको में सूद दर का औसत 70 फीसदी है जबकि वैश्विक औसत लगभग 37 फीसदी है। सूद की भारी दर लेने वालों में मेक्सिको एवं नाईजरिया जैसे मुल्क दुनिया भर में 'अव्वल' कहे जा सकते हैं।

साफ है जिस योजना के जरिए गरीबी मिटाने के दावे किये जा रहे थे, उसने जिस तरह पूंजी के बड़े बड़े 'शाक्स' को आकृष्ट किया है और मालामाल किया है, यह देख कर प्रोफेसर मोहम्मद युनूस जैसे लोग अन्दर ही अन्दर हिल गए हैं। यह अकारण नहीं कि पिछले दिनों संयुक्त राष्ट्रसंघ में दुनिया भर से एकत्रित वित्त अधिकारियों के सामने प्रस्तुत अपने व्याख्यान में वर्ष 2006 में अपनी करिश्माई लगने वाली माईक्रोक्रेडिट योजना के लिए नोबेल पुरस्कार से नवाजे गए प्रोफेसर युनूस ने अपने

दिल के गुबार को लोगों के साथ साझा किया। उन्होंने साफ कहा कि हम लोगों ने माईक्रोक्रेडिट का निर्माण लोन शाक्स अर्थात् गिद्धनुमा महाजनों से मुक्ति के लिए किया न कि इसलिए कि हम नए गिद्धनुमा महाजनों का निर्माण करें। गौरतलब है कि वे तमाम सेलेब्रिटीज् जिन्होंने बड़े शौक से इस योजना के साथ अपना नाम जोड़ा था ताकि एक दिन दुनिया के चेहरे से गरीबी का बदसूरत दाग मिटाया जा सके, उनके चेहरे की भृकुटियां भी तनी दिखती हैं। और ऐसे तमाम लोग जो वेबसाइटों के जरिए ही गरीबी मिटाने के नाम पर संचालित इस योजना में अपना छोटा-छोटा योगदान करते हैं, उनके सामने भी इन कम्पनियों द्वारा बटोरे प्रचण्ड मुनाफे ने नए प्रश्न खड़े किए हैं।

दरअसल इन छोटे-छोटे कर्जों के जरिए प्राप्त हो सकने वाले जबरदस्त मुनाफे से आकर्षित होकर कई बड़े-बड़े बैंक और वित्तीय संस्थान इसमें कूद गए हैं, जिनका आज इस क्षेत्र में दबदबा है। यह सुनने में किसी के लिए विचलित करने वाला लग सकता है कि इनमें से कुछ वित्तीय संस्थान/बैंकों की सूद की दर सालाना सौ फीसदी है।

सूद की ऐसी दरों को लेकर यह बहस भी चल पड़ी है कि किस स्तर तक सूद और मुनाफा स्वीकार्य समझा जाना चाहिए और किसे शोषण कहा जाए? गौरतलब है कि इस विवाद की तरफ अमेरिकी कांग्रेस की भी निगाह गयी है जिसमें उसकी वित्तीय सेवा कमेटी के सामने बाकायदा इस मुद्दे को रखा गया।

प्रश्न उठता है कि अपने यहां क्या स्थिति है? दरअसल अपने यहां भी सूद की दर नियंत्रित रखने के बारे में सरकारी स्तर पर पर्याप्त गम्भीरता नहीं दिखती। गनीमत यही समझी जाएगी कि अपने यहां सूद की दर अभी 80 से 100 फीसदी तक नहीं पहुंची है।

बजट सत्र शुरू होने के पहले ऐसे समाचार मिल रहे थे कि संसद के पटल पर रखे जाने के लिए बन रहे माईक्रोफाइनान्स बिल का मसविदा तैयार करते वक्त सूद की दर नियंत्रित रखने सम्बन्धी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की सिफारिशों को नज़रअन्दाज़

किया गया है। (इकोनॉमिक टाइम्स, 5 फरवरी 2010 'न्यू माइक्रोफाइनेन्स बिल डज अवे विथ लेण्डिंग रेट कैप') मालूम हो कि रिजर्व बैंक ही नहीं खुद वित्त मंत्रालय के अधिकारियों का एक हिस्सा भी इस बात की मांग करता रहा है कि इस योजना के तहत जारी किए जा रहे कर्ज पर सूद की दर को नियंत्रित रखा जाना चाहिए। यह अलग बात है कि मसविदे में 'नियंत्रण' के बजाय 'सलाह' की बात की गयी है।

मालूम हो कि देश में लघुवित्त संस्थानों (माइक्रोफाइनेन्स इंस्टीट्यूशन्स) के बढ़ते विस्तार को देखते हुए उनके नियमन एवं निर्देशन के लिए संसद में बिल लाने का मसला लम्बे समय से विचाराधीन रहा है। एक मोटे अनुमान के हिसाब से ही आज की तारीख में लगभग 250 लघुवित्त संस्थान कार्यरत हैं जो 2 करोड़ से अधिक जरूरतमन्दों तक अपनी सेवाएं पहुंचा रहे हैं और बीते वित्त वर्ष में उन्होंने 13,000 करोड़ रुपए के कर्ज दिए थे। बिल पर जब संसद की मुहर लगेगी है तो नेशनल बैंक फॉर एग्रीकल्चर एण्ड रूरल डेवलपमेण्ट (नाबाड) इन लघु वित्तीय संस्थानों की नियामक इकाई बनेगा, तथा यह भी मुमकिन होगा कि ये लघुवित्त संस्थान अपने यहां डिपॉजिट्स भी रख सकेंगे, अब तक उन्हें इस बात की इजाजत नहीं थी।

शेष दुनिया के अनुभव को देखते हुए स्पष्ट है कि सूद की दर के नियमन का मसला इतना ज्वलंत क्यों है? मगर उसके राष्ट्रीय सन्दर्भ भी हैं।

उदाहरण के लिए पिछले दिनों एक वित्तीय कम्पनी के निदेशक ने टीवी पर बताया कि उनकी कम्पनी जल्द ही आवास क्षेत्र को वित्त प्रदान करने का काम हाथ में लेने वाली है और उनका इरादा है कि पांच लाख रुपए का कर्जा आठ फीसदी सूद की दर पर तथा बीस लाख का कर्जा साढ़े आठ फीसदी सूद की दर पर उपलब्ध कराये। यह भी जानी हुई बात है कि अगर आप अपने उद्योग के संचालन के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकों से कर्ज लेना चाहें तो करोड़ों रुपए के कर्ज के लिए भी ब्याज की इसी किस्म की दर आम तौर पर लागू होती है।

दूसरी तरफ जहां तक वंचित एवं गरीब तबके के लोगों का सवाल है, माइक्रोफाइनेन्स इंस्टीट्यूशन्स की तरफ से इन गरीबों को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा भी काफी कम रहती है और वह ज्यादातर उत्पादन के काम के लिए नहीं बल्कि उपभोग के मद में इस्तेमाल होता है तथा इसमें सूद की दर 20 से 40 फीसदी तक रहती है तथा कर्ज की वसूली 98 फीसदी तक देखी गयी है। यह ऐसा तबका रहा है जो हमेशा ही सरकारी बैंकों एवं निजी कार्पोरेट संस्थानों द्वारा संचालित कर्ज की योजनाओं से बाहर रहा है। मजबूरन उन्हें निजी साहूकारों के पास जाना पड़ता रहा है। यह अकारण नहीं कि उन्हें ऐसा कर्जा देने के लिए कार्पोरेट अलम्बरदारों से लेकर नीति-निर्धारकों में भी गजब का

उत्साह दिखने लगा है।

वैसे माइक्रोक्रेडिट योजनाओं की ऐसी क्या खासियत कही जा सकती है, जो पारम्परिक बैंकों से अलग जान पड़ती है।

पारम्परिक बैंक जहां इसी धारणा पर काम करते हैं कि जिसके पास जितना अधिक है, उसे उतना अधिक मिलेगा; लेकिन माइक्रोक्रेडिट इसी धारणा पर काम करता है कि जिसके पास जितना कम होगा उसे उतनी प्राथमिकता मिलेगी। और यह प्राथमिकता समूचे समूह के आधार पर, उसे गारंटीदार बनाकर प्रदान की जाती है। जैसे भारत के सन्दर्भ में कर्जा वितरण को सुगम बनाने के लिए जिन स्वयं सहायता समूहों का निर्माण होता है, उनमें समूह खुद गारंटीदार बन जाता है।

इस मायने में आंध्र प्रदेश का उदाहरण रेखांकित करने वाला है। भारत का यह वह सूबा है जहां हजारों की संख्या में स्वयं सहायता समूहों का निर्माण हुआ है, लेकिन यही वह प्रांत भी है जहां हजारों किसानों ने जिनमें तमाम महिलायें भी शामिल हैं, कर्ज से तंग आकर आत्म-हत्यायें की हैं। विगत साल इस प्रांत में कुछ इलाके बाढ़ से आप्लावित हुए तो तबाह हो चुके कई गांवों में सबसे पहले पहुंचने वाले ऐसी स्वयं सहायता समूहों को कर्जा प्रदान करने वाले माइक्रोक्रेडिट संस्थाओं के नुमाइन्दे थे, जो ऐसी तमाम महिलाओं से अपनी मासिक किश्त मांग रहे थे, जिनका सब कुछ बाढ़ में तबाह हो चुका था।

मालूम हो कि ऐसी कई संस्थाएं - जिनका लगभग 1,040 करोड़ रुपया इस काम में लगा है - अपने कर्ज के लिए भारी सूद दर और अपने कर्ज वसूली के लिए अपनाये गये जोर जबरदस्ती के तरीकों के जरिये बेहद बदनमा हो चुकी थीं और उससे बेहद असन्तोष पनप रहा था। यहां तक कि कर्जों की जबरन वसूली के लिए इनके प्रतिनिधियों ने अपनाये तौर तरीकों से कृष्णा, गुण्टूर और प्रकाशम जिले में कई आत्महत्यायें भी हुई थीं। मजबूरन आंध्र सरकार को दबाव बना कर ऐसे स्वयं सहायता समूहों को कर्जा उपलब्ध कराने वाली लघुवित्तीय संस्थाओं द्वारा लिये जाने वाले सूद की दर घटाने के लिए दखल देनी पड़ी।

अन्त में, इस व्यवसाय में किस कदर लाभ कमाया जा सकता है, यह विशुद्ध मानवतावादी कहे जाने वाले संगठनों के अनुभवों से भी स्पष्ट होता है। अटलाण्टा स्थित अमेरिकी मानवतावादी संगठन 'केअर' का अनुभव रेखांकित करने लायक है। वर्ष 1997 में पेरू में लघुवित्त संस्थान खड़ा करने में उसने अहम भूमिका अदा की। इसका शुरुआती निवेश 3.5 मिलियन डॉलर्स था जिसमें साढ़े चार लाख डॉलर्स करदाताओं का पैसा भी शामिल था। पिछले साल उसने पेरू के इस उद्यम को वहां की सबसे बड़ी बैंकों में से एक बैंक दे क्रेडिटो को 96 मिलियन डॉलर में बेचा जिनमें से 74 मिलियन डॉलर अकेले 'केअर' को मिला।

संघर्ष पर सहायता के असर का विश्लेषण करने का ढांचा

■ मेरी बी. एण्डरसन

...पिछले अंक से जारी

सहायता और संघर्ष के आपसी संवाद के बारे में राहतकर्मियों ने अनेक ज़मीनी और उपयोगी बातें सीखी हैं। संघर्षमय इलाकों के लिए सहायता संबंधी भावी कार्यक्रम तय करने के दौरान इस सीख का इस्तेमाल योजना बनाने, रूपरेखा तैयार करने, इन्हें लागू करने और उनका संचालन करने में किया जा सकता है। पिछले अनुभव से सीखी गई बातों का इस्तेमाल करते हुए राहतकर्मियों यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि भविष्य में सहायता संघर्ष को बढ़ाए या लंबा न खींचे, और यह समन्वयकों को मजबूत करे व शांति स्थापित करने की स्थानीय क्षमताओं को अपना समर्थन प्रदान करे।

इस अध्याय में हम पिछले अध्यायों में चर्चित विचारों को और जो कुछ सीखा है उसको तनाव के स्रोतों, विभाजकों, समन्वयकों, युद्ध की क्षमताओं और संघर्षमय स्थितियों में शांति स्थापित करने के लिए समन्वयकों और क्षमताओं का लेखा-जोखा लेने की खातिर एक विश्लेषणात्मक ढांचे के साथ रख कर देख रहे हैं। नियोजन संबंधी यह औज़ार अनेक क्षेत्रों में मौजूद सहायता एजेंसी के कर्मचारियों के साथ बातचीत और बहस के बाद तैयार हुआ है।

अंतर्राष्ट्रीय सहायता की अपेक्षाएं :

ढांचे के इस्तेमाल के लिए संदर्भ तय करने के लिए ज़रूरी है कि हम पहले अपेक्षाओं को लेकर स्पष्ट हो लें। संघर्षमयी परिस्थितियों में सहायता क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती है?

साक्ष्य साफ़ तौर पर बताते हैं कि सहायता लोगों को ज़िंदा रखती है, मानवीय दुःखों को कम करती है, और संघर्षमय स्थितियों में ज़्यादा आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा की चाहत का समर्थन करती है। यही सब वो है जो सहायता करना चाहती है और मोटा-मोटी इसका रिकॉर्ड अच्छा है। हम अपेक्षा करते हैं कि सहायता के ये ही असर पड़ें।

लेकिन हम कितने यथार्थवादी हैं जब हम यह अपेक्षा करने लगते हैं कि सहायता के संघर्ष पर सकारात्मक असर होने चाहिए? इसकी सीमाएं क्या हैं?

सहायता न तो युद्ध शुरू करवाती है और न ही ख़त्म करवाती है : राहतकर्मियों अगर पिछले अनुभव से हासिल सबक को लागू करें और पुख्ता कार्यक्रमों को भी चलाएं तो भी युद्ध लड़े जाते रहेंगे। लोग और

समाज उनके अपने कारणों के चलते युद्ध करते हैं, बाहरी व्यक्ति या संस्थाएं युद्ध का लड़ा जाना रोक नहीं सकतीं। लोगों और समाजों को अपने लिए शांति खुद ही हासिल करनी होगी, बाहरी ताकतें किसी दूसरे के लिए शांति स्थापित नहीं कर सकतीं। सहायता को अधिक ताकतवर बनाना, यह समझना कि सहायता युद्ध करा सकती है या शांति ला सकती है- ऐसा करना सहायता प्राप्त करने वाले समाजों के चुनने के अधिकार और उत्तरदायित्व का अपमान करना होगा।

अंतर्राष्ट्रीय सहायता की सीमाओं से खुद को अवगत कराते वक़्त हमें दो अन्य वास्तविकताओं का भी ध्यान रखना होगा। पहला, जबकि अपने युद्धीय या गैर-युद्धीय फैसलों और व्यवहारों के लिए पूरी तरह से समाज खुद ही जिम्मेदार है, समाज के भीतर अनेक व्यक्ति और समूह इन फैसलों के संबंध में खुद को कमज़ोर महसूस करते हैं और अगर उनका बस चले तो युद्ध की बजाय शांति का चयन ही करें। चूंकि यह वास्तविकता सार्वभौमिक रूप से सच नज़र आती है इसलिए कभी-कभी अंतर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षक द्वारा की गई यह टिप्पणी कि “हमें उन्हें अपने युद्ध लड़ने के लिए अकेला छोड़ देना चाहिए और उनमें शिरकत नहीं करनी चाहिए” उचित नहीं है। हर समाज में ऐसे लोग होते हैं - अक्सर अनेक लोग होते हैं - जो अपने देश के युद्धों की निंदा करते हैं और बाहरी सहायता को महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि यह विनाशकारी हिंसा के विरोध को अभिव्यक्त करने में उनकी मदद करती है। सहायता की यह जिम्मेदारी बनती है कि इनका जवाब दे और इनका साथ नहीं दे।

सहायता की सीमाओं को समझते हुए जो दूसरी वास्तविकता हमें पहचाननी चाहिए वो यह है कि सहायता की छोटी मात्रा भी ताकतवर होती है। हालांकि युद्ध में झोंके जाने वाले कुल संसाधनों की तुलना में सहायता बहुत छोटी नज़र आ सकती है, इस बात के खासे सबूत हैं कि युद्ध की नियति तय करने में यह प्रभावी है जिसके चलते सहायता दाताओं को इसके असर की जिम्मेदारी लेनी चाहिए। संघर्ष पर सहायता के असर नहीं भी हो सकते हैं और बहुत ज़्यादा व महत्वपूर्ण भी हो सकते हैं।

युद्ध के दौरान कुछ घटनाएं ऐसी घट जाती हैं जिनके लिए सहायता जिम्मेदार नहीं होती। कुछ घटनाएं घटती हैं और ये सहायता के मौजूद नहीं रहने पर भी घटती रहेंगी। लेकिन चूंकि

सहायता उस संदर्भ में दी जाती है जिसमें ये घटित होती हैं इसलिए उन पर इसका असर होता ही है। इन परिस्थितियों में राहतकर्मियों को ज़िम्मेदारी स्वीकार करनी ही होगी, इसलिए नहीं कि घटनाएं घटित होती हैं बल्कि उन तरीकों की खातिर जिनके चलते उनके द्वारा प्रदान सहायता या तो विनाशकारी घटनाओं को बदतर और दीर्घकालीन बनाती हैं या सकारात्मक घटनाओं का समर्थन करती हैं और उन्हें मजबूत बनाती हैं।

कुछ घटनाओं के पीछे सहायता का हाथ होता है। जब ऐसा होता है तब राहतकर्मियों को यह पूछने की चुनौती दी जाती है कि क्या उनके द्वारा प्रदान सहायता ने लोगों के बीच में नए तनाव पैदा कर दिए हैं या पुरानों को बढ़ा दिया है और क्या यह रिश्तों को दोबारा मजबूत बनाने या उनके बीच नए रिश्ते कायम करने में मदद कर सकती है।

जब सहायता संघर्षमय जटिल परिस्थितियों में दी जाती है तब राहतकर्मियों को यह जानने के लिए यथार्थवादी और सरल होना चाहिए कि वे किन चीजों में बदलाव नहीं ला सकते और उनकी ज़िम्मेदारी क्या नहीं है, और उन्हें आदर्शवादी होना चाहिए और इतना साहसी होना चाहिए कि उन घटनाओं के लिए खुद को ज़िम्मेदार ठहराना चाहिए जो उनकी देन हैं या उनके द्वारा प्रभावित हैं। यह कोई छोटी चुनौती नहीं है।

संघर्ष को प्रभावित करने में सहायता की सीमाओं और संभावनाओं की इस समझ के साथ हम सहायता कार्यक्रमों के नियोजन के लिए विश्लेषणात्मक ढांचा पेश कर रहे हैं।

विश्लेषणात्मक ढांचा :

अंतर्राष्ट्रीय सहायता दो तरह से संघर्ष को बदतर बना सकती है। यह समूहों के बीच तनावों को बढ़ा सकती है और समूहों के बीच के रिश्तों को कमज़ोर कर सकती है। जब सहायता इनमें से कोई भी असर डालती है तो यह अनजाने में संघर्ष को उग्र कर देती है। इसके विपरीत सहायता समूहों के बीच के तनावों को कम करके और समूहों के बीच के रिश्तों को मजबूत बना कर युद्ध को समाप्त करने में मदद कर सकती है।

पहले व्यवहार में शामिल है विभेदकों, तनावों और संघर्ष के संदर्भ में युद्ध क्षमताओं को पहचानना और उनके महत्व का मूल्यांकन करना। दूसरे व्यवहार में शामिल है समन्वयकों और उसी संदर्भ में शांति स्थापित करने के लिए स्थानीय क्षमताओं को पहचानना और उनके महत्व का मूल्यांकन करना। तीसरे व्यवहार में शामिल है सहायता एजेंसी और इसके कार्यक्रम की प्रासंगिक विशेषताओं को पहचानना और विभेदकों, तनावों तथा युद्ध क्षमताओं और समन्वयकों एवम् शांति स्थापित करने के लिए क्षमताओं का मूल्यांकन (और पुनर्मूल्यांकन)।

संघर्ष का संदर्भ : विभेदक, तनाव और युद्ध की क्षमताएं : सहायता प्रदान करने वालों को पहले यह समझना होगा और इसका मूल्यांकन करना होगा कि आखिर लोगों को बांटने

वाले तत्व हैं कौन, उनके आपसी तनाव क्या हैं, और वे जहां काम कर रहे हैं उस इलाके के लोगों की युद्ध की क्षमताएं (किसे इससे फायदा होता है) क्या हैं। यह बात सच है फिर चाहे इलाके में बड़े स्तर पर युद्ध चल रहा हो या फिर यहां समुदायों के बीच छोटे-स्तर की छुटपुट कहा-सुनी होती हो।

कुछ विभेदक और तनाव तो साफ दिखायी पड़ते हैं। युद्धरत पक्ष अक्सर आपसी युद्ध के कारण बता देते हैं। पूर्वाग्रह और बहिष्कार का इतिहास, विवादित संसाधनों पर कब्जे के लिए संघर्ष, और एक समतामूलक समाज की रचना के बारे में अलग-अलग सोच - ये ऐसे कारण हैं जिनके चलते लोग युद्ध शुरू कर सकते हैं।

दूसरी तरफ, जैसा हमने देखा है, ये मुद्दे किसी संघर्ष के कारण नहीं भी बन सकते हैं। मशहूर नेता जनमत को तोड़-मरोड़ कर समूहों के बीच तनाव को भड़का सकते हैं, लेकिन लड़ाई इंसानों से जुड़े मुद्दों से निपटने में ज़्यादा कुछ कर नहीं सकती है।

विभेदकों और तनावों का मूल्यांकन करते वक़्त राहतकर्मियों को उन विभेदकों और तनावों, जो बेइंसाफी या ऐतिहासिक असमानताओं से पैदा होती है और वो जो तोड़-मरोड़ कर पेश की जाती हैं या संघर्ष का परिणाम होती हैं, के बीच अंतर करना होगा। कहने का मतलब है राहतकर्मी को संघर्ष के मूल कारणों और फौरी कारणों के बीच अंतर करना होगा।

ज़रूरी नहीं है कि समाजों में फैले तनाव और विभेदकों के सभी स्रोतों की नुक़सान पहुंचाने की क्षमता एक सी हो। कुछ स्थानीय होते हैं और केवल कुछ लोगों के लिए ही महत्व के होते हैं जबकि दूसरे पूरे समाज में व्याप्त होते हैं और लगभग हर किसी को प्रभावित करते हैं। विभेदकों और तनावों पर सहायता के असर अलग-अलग होंगे और ये असर इस बात पर निर्भर करेंगे कि किस स्तर पर - बड़े या छोटे - तनावों और विभाजनों की बात आपस में की गई है।

हर ओर फैले कुछ तनाव वास्तव में संघर्ष के सभी पक्षों के लोगों को आपस में जोड़ सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, अराजकता के साझा अनुभव संदेहों को बल प्रदान कर सकते हैं और इस प्रकार लोगों को विभाजित कर सकते हैं, या खुल्लम-खुल्ला ठगी की धमकी के खिलाफ़ आम लड़ाई में फिर से जुड़ने के लिए लोगों को संघर्ष की सीमा रेखाओं को पार कर एक दूसरे से मिलने के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

कुछ विभेदक और तनाव तो समाज के भीतर ही होते हैं जबकि कुछ दूसरे समाज के बाहर से उकसाये और तैयार किए जा सकते हैं। क्षेत्रीय मुद्दे और बाहरी ताकतें अनेक चालू संघर्षों को जन्म देती है। कभी-कभी पड़ोसी देश अपने ही उद्देश्यों के लिए लड़ाकू बन जाते हैं (जैसे अफ़ग़ानिस्तान), पड़ोसी देशों में घटित घटनाक्रम कभी-कभी दूसरे देश में भी पहुंचकर वहां अस्थिरता पैदा कर देता है (जैसे हॉर्न ऑफ़ अफ़्रीका)। विभेदकों

और तनावों पर सहायता के भावी असर का मूल्यांकन करते वक़्त संघर्ष के स्रोत की भौगोलिक स्थिति को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है।

विभेदकों, तनावों और युद्ध की क्षमताओं के महत्व का मूल्यांकन करना : इस व्यवहार में यह ज़रूरी है कि राहतकर्मी विभेदकों, तनावों और युद्ध की क्षमताओं को न केवल पहचानें बल्कि वे इसके महत्व का मूल्यांकन भी करें। एक महत्वपूर्ण सवाल यह है कि कौन बंटा हुआ है? किन समूहों में या किन समूहों के बीच तनाव और विभाजन मौजूद है? तनाव अक़सर उन समाजों में पाए जाते हैं जो महत्वपूर्ण तो हैं लेकिन किसी ऐसी पहचान से ढके नहीं जाते हैं जिसकी एक आम संघर्ष के रूप में उभरने की संभावना होती है।

साथ ही, विभेदकों और तनावों के महत्व का मूल्यांकन करते वक़्त राहतकर्मियों को इस पर भी ध्यान देना चाहिए कि लोग अपने संघर्ष के प्रति किस हद तक कटिबद्ध है। यह कटिबद्धता किस स्तर (लोगों की संख्या) तक आपस में चर्चित हुई है? संघर्ष के जारी रहने से किसे फ़ायदा होता है और ये फ़ायदे कितने लोग मिल कर उठाते हैं?

विभेदकों, तनावों और युद्ध क्षमताओं को पहचानने और उनका मूल्यांकन करने की कुछ महत्वपूर्ण श्रेणियां - मूल या फ़ौरी कारण, लोगों का व्यापक अथवा संकीर्ण स्तर का जुड़ाव, और समाज के भीतर मौजूद या बाहर से प्रेरित। विभेदकों और तनावों पर सहायता के वास्तविक और भावी असर अलग-अलग तरह के होंगे। ये असर निर्भर करेंगे सहायता प्रदान किए जाने वाले समाज के भीतर मौजूद युद्ध के प्रति कटिबद्धता के पैमाने पर।

संघर्ष का संदर्भ—समन्वयक और अमन की स्थानीय क्षमताएं : ढांचे का दूसरा व्यवहार मांग करता है कि संघर्ष के संदर्भ में समन्वयकों और शांति स्थापित करने की स्थानीय क्षमताओं को पहचाना जाए और उनका मूल्यांकन किया जाए। जहां विभेदक और तनाव साफ़ दिखाई दे सकते हैं वहीं राहतकर्मियों को बहुत कम संवेदक और शांति स्थापित करने की स्थानीय क्षमताएं उतनी साफ़ दिखाई देती हैं, और विभिन्न संदर्भों में इनमें बहुत ज़्यादा अंतर होता है। बुजुर्गों, महिलाओं के समूहों और स्कूलों जैसे समन्वयकों को समूहों की श्रेणी के रूप में पहचानना काफी नहीं है। हालांकि कुछ परिस्थितियों में ये समूह युद्ध के बावजूद लोगों को एक-दूसरे से जोड़ सकते हैं, फिर भी अनेक समाजों में वे घृणा को बढ़ावा देते हैं और विभाजनों को पुख़्ता करते हैं।

समन्वयकों और अमन की स्थानीय क्षमताओं के महत्व का मूल्यांकन : किसी खास जगह पर असली समन्वयकों और शांति स्थापित करने की स्थानीय क्षमताओं की पहचान करना उस जगह पर मौजूद व्यवस्थाओं, कार्रवाइयों और आपसी मेल-जोल के प्रति सजगता की मांग करता है। जिन सवालों पर ध्यान दिया जा सकता है वे हैं—संघर्ष के वे कौन से मोर्चे हैं जिनमें

समन्वयक और अमन की स्थानीय क्षमताओं का महत्व है? युद्ध के मोर्चों के पार लोग बाहरी संपर्क और जुड़ाव कहां बनाए रखते हैं? कम स्पष्ट तरीकों से लोग कहां एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं? स्पष्ट और अस्पष्ट दोनों ही मेल-जोल कितने व्यापक या कितने सीमित हैं?

समन्वयकों और अमन स्थापित करने की क्षमताओं के महत्व को पहचानने और उनका मूल्यांकन करने की कुछ महत्वपूर्ण श्रेणियों में शामिल हैं - लंबी अवधि की, ऐतिहासिक या नई, संघर्ष से पैदा हुई, व्यापक आधार वाली, आंतरिक या संकीर्ण, आंतरिक या बाहरी, और वास्तविक वर्तमान या भावी (क्या सहायता प्रोत्साहन दे सकती है?)। समन्वयकों और अमन स्थापित करने की क्षमताओं पर असर डालने की सहायता की सामर्थ्य इन वास्तविकताओं पर निर्भर होने की वजह से अलग-अलग होगी।

सहायता कार्यक्रम—योजना बनाना, उसे लागू करना, और उसका संचालन करना : ढांचे के तीसरे व्यवहार में सहायता एजेंसी और इसके कार्यक्रम का विश्लेषण किया जाता है। किसी भी सहायता कार्यक्रम की लगातार समीक्षा की जानी चाहिए क्योंकि संदर्भ बदलते रहते हैं और कर्मचारियों की संदर्भ के बारे में समझ भी बढ़ती है। ऐसी समीक्षा को लगातार चलने वाले सटीक कार्यक्रम संबंधी सुधारों को तुरंत आगे बढ़ाना चाहिए।

कार्यस्थल पर चलाए जा रहे कार्यक्रमों से प्रभावित हुए बिना एजेंसी का आदेश, फंड के ढांचे और स्रोत तथा मुख्यालय का संगठन तय होते हैं (हालांकि अगर कार्यस्थल का अनुभव इंगित करता है कि यह मुख्य ढांचा उल्टा परिणाम दे रहा है तो एजेंसी की पहचान के इन पहलुओं को भी बदला जा सकता है)।

इसके अलावा, किसी भी कार्यस्थलीय प्रयास के दौरान एजेंसियां कार्यक्रम संबंधी अनेक फैसले लेती हैं। इनमें शामिल हैं, क्या हस्तक्षेप किया जाए, अगर किया जाए तो क्यों? (बताए गए बाह्य लक्ष्य) कहां हस्तक्षेप किया जाए, क्या प्रदान किया जाए, कब और कब तक, किसके साथ (लाभार्थी), किसके द्वारा (कार्यस्थल पर सक्रिय कर्मचारी) और कैसे। इनमें से कुछ फैसले ज़्यादातर मुख्यालय में लिए जाते हैं, कुछ मुख्यालयों और कार्यस्थलों द्वारा आपसी सहयोगी से लिए जाते हैं, और कुछ फैसले तो केवल कार्यस्थलों पर ही लिए जाते हैं।

क्या हस्तक्षेप किया जाए, क्यों हस्तक्षेप किया जाए और कहां हस्तक्षेप किया जाए सरीखे सवालों पर फैसले एजेंसी के कार्यस्थल पर जाने से पहले ही ले लिए जाते हैं। हालांकि ये एक कार्यस्थल मूल्यांकन अभियान पर आधारित हो सकते हैं, ये फैसले ज़्यादातर मुख्यालयों में ही लिए जाते हैं। क्या सहायता दी जाए और किसी कार्यक्रम का समय और अवधि संबंधी फैसले भी अक़सर दाता नीतियों और मुख्यालय के आदेशों व ढांचों द्वारा तय होते हैं। हालांकि जब एक बार कार्यक्रम शुरू कर दिया जाता है तो उन्हें अक़सर कार्यस्थल पर मिली जानकारी के आधार पर बदल दिया

जाता है और समायोजित कर दिया जाता है। सहायता किसको दी जाएगी और किस तरह के कर्मचारियों को कार्यक्रम चलाना चाहिए - इस बारे में फैसले कार्यस्थल पर ही लिए जाते हैं, हालांकि अंतर्राष्ट्रीय कर्मचारियों की नियुक्ति संबंधी फैसले मुख्यालय में ही लिए जाएंगे। अंत में, कार्यक्रम कैसे चलाया जाए--इस बारे में फैसले मुख्य रूप से कार्यस्थल पर ही लिए जाते हैं। हालांकि मुख्यालय की नीतियां ही यह तय कर सकती हैं कि साधारणतया कार्यक्रमों का रूप और तरीका क्या होगा, कार्यस्थल के कर्मचारी ही अपने कार्य के तरीके के बारे में स्थानीय खास, दैनिक और वर्तमान फैसले लेते हैं। हर एक स्तर पर लिए गये फैसले संघर्ष पर पड़ने वाले सहायता के असर को प्रभावित कर सकते हैं।

संघर्ष के साथ सहायता के मेल-जोल पर असर डालने की जिम्मेदारी और ताकत किसके पास है यह इस बात पर तय होता है कि कौन सा फैसला मुख्यालय में लिया जाता है और कौन सा कार्यस्थल पर। जो लोग मुख्यालय में बैठे फैसले लेते हैं वे ही कार्यस्थल पर अपने चुनावों के परिणामों के लिए जिम्मेदार होते हैं। अगर फैसलों के नकारात्मक असर पड़ते हैं तो उन ही व्यक्तियों को इसकी जिम्मेदारी लेनी चाहिए। इसी तरह कार्यस्थल पर सक्रिय लोगों को जिम्मेदारी उठानी पड़ती है और उनके पास यह तय करने के विकल्प होते हैं कि उनका चुनाव संघर्ष को किस तरह प्रभावित करता है। हालांकि फैसले लेने की कड़ियां जुड़ी हुई हैं फिर भी हर स्तर पर व्यक्तियों के पास यह सुनिश्चित करने के विकल्प और आज़ादी है कि प्रक्रिया में उनकी भूमिका नुकसान कम पहुंचाती है और भला ज़्यादा करती है। संभव है कि पूरी व्यवस्था न बदली जा सके लेकिन एक जागरूक और विचारवान व्यक्ति कार्यक्रम का अपना हिस्सा इस तरह चलाए कि उसका ज़्यादा सकारात्मक असर पड़े।

ढांचे के तीसरे व्यवहार में सहायता कार्यक्रम की विशेषताओं को पहचानना पड़ता है। यह पहचान बताई जा चुकी श्रेणियों के तहत करनी होती है और यह जानने के लिए कि हर एक कार्यक्रम संबंधी चुनाव किस तरह संदर्भ को प्रभावित करेगा, इन विशेषताओं का रिश्ता संदर्भ (विभेदक या समन्वयक) से जोड़ना होगा। उदाहरण के तौर पर, कार्यक्रम तैयार करने वालों को पूछना चाहिए - अन्यथा इस कार्यक्रम के लिए हम कर्मचारी कहां से लाएंगे? कर्मचारियों की संख्या का क्या होगा? हमें किस तरह के लोगों को भाड़े में रखना चाहिए (पुरुष, महिलाएं, संघर्ष से जुड़े सभी पक्ष, केवल एक पक्ष, और ऐसे ही)? काम करने के संभावित तरीके क्या हैं (तनख्वाह पर कर्मचारी,

स्वयंसेवकों पर विश्वास, सरकारी एजेंसियों के माध्यम से कार्य करना, और इसी तरह के)? इस स्थिति में विभेदकों और तनावों से हम जो कुछ समझते हैं उसके चलते हर एक विकल्प इन्हें किस तरह प्रभावित करेगा?

अगर समन्वयकों को मजबूत करने के सवाल का जवाब “नहीं” है तो फिर विकल्प वाले कॉलम में जाया जाता है और कर्मचारियों की भर्ती के सभी विकल्पों पर सोचा जाता है जो समन्वयकों और शांति स्थापित करने की क्षमताओं का निर्माण करता है और उन्हें समर्थन भी देता है। हम स्थानीय क्षमताओं और समन्वयकों के बारे में क्या जानते हैं? क्या हम कर्मचारियों को लेकर ऐसा नमूना तैयार कर सकते हैं जो काम करे और साथ-साथ किसी क्षमता या समन्वयक को मजबूत भी करे?

ढांचे के जनमत संबंधी गतिशील तत्व मांग करते हैं कि कार्यक्रम संबंधी हर एक फैसले की जांच दो तरफ़ से होनी चाहिए (विभेदक/तनाव और समन्वयक/अमन की स्थानीय क्षमताएं)। अगर कर्मचारियों की नियुक्ति को इस तरह समायोजित किया जाता है कि यह निश्चित हो जाए कि तनाव बदतर नहीं किए जा रहे हैं तो समायोजन की परख ढांचे के समन्वयकों वाले पक्ष को लेकर भी करनी चाहिए। कार्यक्रम तैयार करने वालों को पूछना चाहिए - क्या हम तनावों को नहीं बढ़ाने और साथ ही समन्वयकों के पक्ष में खड़े होने के लिए कर्मचारियों के चुनाव के संबंध में यही सबसे अच्छा काम कर सकते थे? अगर नहीं, तो क्या कोई दूसरा विकल्प है?

इसी तरह अगर कोई ऐसा विकल्प मिलता है जो समन्वयकों को मजबूत बनाता है तो कार्यक्रम तैयार करने वालों को दोबारा जांच करके यह देखना चाहिए कि क्या कोई ऐसा तरीका मौजूद है जिससे यह अनजाने में तनाव बढ़ा सकता है। अगर ऐसा है, तो दूसरे विकल्प क्या हैं?

प्रक्रिया जितनी उलझी हुई दिखाई देती है उतनी है नहीं। एक बार जब सहायता दाता विभेदकों/तनावों और क्षमताओं/समन्वयकों के विचार को आत्मसात कर लेता है/लेती है तो वह हमेशा चुनावों (पसंद) को इन्हीं नज़रिए से देखेगा/देखेगी। संघर्ष के संदर्भ में कार्यक्रम संबंधी फैसलों के असावधान गौण प्रभावों के बारे में सोचना यदा-कदा वाला व्यवहार बन जाएगा। प्राथमिक सोच तो यही बनी रहेगी कि यह सुनिश्चित किया जाए कि एजेंसी का आदेश और कार्यक्रम संबंधी लक्ष्यों को कैसे हासिल किया जाए। साथ ही यह सोचना भी स्वाभाविक बना रहेगा कि ऐसा कैसे उन तरीकों से किया जाए जो समूहों के बीच तनावों को बढ़ाए नहीं, बल्कि जो एक समान एवम् शांतिमय समाज के

निर्माण में लगे लोगों के बीच जुड़ाव का समर्थन करे और उसे मजबूत बनाए।

तीसरे अध्याय में हमने विभेदकों और समन्वयकों के प्रकारों की एक श्रेणी को चिन्हित किया है। इस श्रेणी में शामिल हैं व्यवस्थाएं और संस्थान, नज़रिए और क्रियाशीलता, मूल्य और हित, अनुभव, प्रतीक और आयोजन। इन श्रेणियों को ढांचे के दो तरफ़ रखा गया है। मक़सद राहतकर्मियों को यह याद दिलाना है कि वे उन कारणों की व्यापक पहुंच के प्रति सजग रहें जिन्हें उनके द्वारा दी जाने वाली सहायता प्रभावित करती है।

ढांचागत औज़ार क्या करता है और क्या नहीं करता है : कोई भी ढांचागत औज़ार तीन चीज़ें करता है। पहला, यह सूचना की उन श्रेणियों की पहचान करता है जो संघर्ष के साथ सहायता के रिश्तों को तय करने में बहुत महत्वपूर्ण पाई गई हैं। दूसरा, यह उन सूचनाओं को व्यवस्थित करता है। तीसरा, यह श्रेणियों के परस्पर रिश्तों का ज़िक्र करता है और वैकल्पिक कार्यक्रम संबंधी फैसलों के परिणामों के बारे में कयास लगाने देता है। यह इस मूल्यांकन को आसान बना देता है कि क्या अनुमानित असर ही सबसे अच्छा है और अगर ऐसा नहीं है तो यह ढांचागत औज़ार असर को बेहतर बनाने वाले विकल्पों की परख करने देता है।

कोई ढांचा कभी-भी यह तय नहीं करता कि क्या कार्वाइयों की जाएं। यह राहतकर्मियों के लिए घटनाओं और कारणों की व्याख्या नहीं करता है। यह उनसे नहीं कहता है कि क्या करो।

लेकिन जैसा कि सभी औज़ारों के बारे में कहा जाता है एक कुशल कार्यकर्ता एक अच्छे औज़ार से बेहतर काम कर सकता है।

ढांचे का इस्तेमाल करने के लिए कितनी जानकारी ज़रूरी है : यह बहुत महत्वपूर्ण है कि किसी भी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करने की शुरुआत, विभेदकों और तनावों तथा समन्वयकों और अमन की क्षमताओं सरीखे संघर्ष के संदर्भ के बारे में जागरूक रहते हुए की जानी चाहिए। हालांकि राहतकर्मों कभी भी इन सभी पहलुओं का ब्यौरा नहीं जान पाएंगे और निश्चित तौर पर तब तो और भी नहीं जब कार्यक्रम शुरू हो जाता है। सौभाग्य से शुरुआत में सभी कुछ जानना उनके लिए ज़रूरी नहीं है।

हां, उन्हें इस बारे में ज़रूर जागरूक रहना चाहिए कि कुछ तनाव गहरे होते हैं जबकि दूसरे कुछ सतही, यह भी कि अगर समाज में मौजूद विभाजन को पहचानने पर ध्यान नहीं दिया गया तो सहायता खुद तनाव के नए स्रोत पैदा कर सकती है, यह कि सभी परिस्थितियों में लोग एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं और ऐसा वे उन अनेक कारणों के माध्यम से करते हैं जो

सहायता दिलाने के मौके मुहैया कराते हैं। इन तीन सरल विचारों और विभेदकों एवम् समन्वयकों को खोजने और समझने की प्रेरणा के साथ राहतकर्मों ज़्यादा कारगर कार्यक्रम तैयार कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, अनुभव बताते हैं कि किसी संघर्ष वाले इलाके की पुरानी जानकारी रखने वाले लोग इन तत्वों को पहचानने और उनका मूल्यांकन करने की बेहतरीन स्थिति में नहीं हो सकते हैं। जो लोग “बहुत कुछ” जानते हैं अक़सर परिस्थितियों की जटिलता (जो वास्तविक है) में उलझ जाते हैं और इसलिए वो दूरी नहीं बना पाते जिससे वे बदलाव के अवसर देख सकें। वे वर्तमान को अवश्यंभावी मान बैठते हैं। वे अक़सर मानते हैं कि समाधान बाहर से ही, विदेशी राजनेताओं से ही आ सकते हैं। ऐसे में वे राजनीतिक कार्रवाई को समर्थन और कभी-कभी नेतृत्व प्रदान करने वाली ज़मीनी कार्रवाइयों के लिए मिले मौके से भी हाथ धो बैठते हैं।

स्थिर नहीं, गतिशील : इसके पहले हमने ढांचे को इस्तेमाल करने की गतिशील, दोहराई जाने वाली प्रक्रिया पर जोर दिया था। यह जान लेना भी महत्वपूर्ण है कि संघर्ष का संदर्भ भी लगातार बदलता रहता है। आज के विभेदक कल समन्वयकों की भूमिका में दिखाई दे सकते हैं (उदाहरण के तौर पर, युद्ध का साझा अनुभव)। नए समन्वयक पैदा हो सकते हैं, नए तनाव भी पैदा हो सकते हैं। अक़सर युद्ध खुद-ब-खुद शांति के लिए स्थानीय क्षमताओं को पैदा कर देता है। राहतकर्मियों को श्रेणियों को ध्यान में रख कर बदलाव के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्हें नियमित रूप से ढांचे को भरते रहना चाहिए, क्योंकि इसका इस्तेमाल उन्हें वास्तविक बदलावों को पहचानने और इनका उल्लेख करने में मदद कर सकता है। साथ ही कुछ समय बाद यह समझने में भी मदद कर सकता है कि कार्यक्रमों को असरदार बनाने के लिए कौन से बदलाव महत्वपूर्ण हैं।

इस पुस्तक के भाग-दो में संघर्षमय परिस्थितियों में सहायता से जुड़े कार्यक्रमों के 6 प्रतिनिधि केस उदाहरणों में ढांचे को लागू किया गया है। इन केस ने और दूसरे अनेक केसों ने पहले उन तरीकों को उद्घाटित किया जिनके तहत सहायता और संघर्ष रू-ब-रू होते हैं। हम उन दोनों को यहां यह दिखाने के लिए शामिल कर रहे हैं कि अलग-अलग वास्तविकताओं से कैसे ये तरीके निकले और साथ ही यह दिखाने के लिए भी कि विश्लेषणात्मक ढांचा सहायता और संघर्ष के गतिशील मेल-जोल को समझने में कैसे हमारी मदद कर सकता है।

...क्रमशः जारी

फाँसी के तख्ते से जूलियस फूचिक

चेकोस्लोवाकिया का क्रांतिकारी

जूलियस फूचिक ने यह पुस्तक नात्सी जल्लाद के फन्दे की छाया में लिखी थी। इसकी पांडुलिपि के रूप से ही इसके लेखक के अदम्य साहस और अनोखी सूझबूझ का प्रमाण मिल जाता है। इसकी पांडुलिपि हैं कागज की स्लिपें जिन पर पेंसिल से लिखा हुआ है। बाद में यही स्लिपें एक हमदर्द चेक सन्तरी की मदद से पांक्राट्स, प्राग, के गेस्टापो जेल से एक-एक करके चोरी-चोरी बाहर लायी गयीं। फूचिक, जिसे अपने आप से छल करना कतई मंजूर नहीं था, जानता था कि वह इस खतरों भरी किताब को समाप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन तब भी उसका यह विश्वास अपनी जगह पर बिल्कुल टूट था कि उसके अपने देश के लाखों-करोड़ों लोग और दूसरे देशों के फासिस्त-विरोधी जन जल्द ही उसकी इस पुस्तक का उसके ही शब्दों में 'सुखद अंत' लिखेंगे।

...पिछले अंक से जारी

कोठरी नम्बर 267

दरवाजे से खिड़की तक सात कदम, खिड़की से दरवाजे तक सात कदम।

मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ।

पांक्राट्स की इस कोठरी के चीड़ के तख्तों पर मैंने कितनी बार इस फासले को तय न किया होगा! इस कोठरी में मैं शायद इसीलिए बैठा हूँ कि मेरी आँखों के सामने यह बात बहुत साफ थी कि हमारी शहरी जनता की घातक नीति का परिणाम चेक राष्ट्र के लिए कितना भयंकर होगा। मेरा राष्ट्र आज सलीब पर टँगा है; मेरी कोठरी के आगे जर्मन संतरी गश्त लगा रहे हैं और वहाँ बाहर कहीं राजनीतिक भाग्य की देवियाँ देशद्रोह का ताना-बाना बुन रही हैं। आँखें खुलने के लिए इंसान को कितनी सदियाँ लगेंगी? अपनी प्रगति की राह में उसने कितनी हज़ार कैदखाने की कोठरियाँ पार की होंगी? अभी और कितनी करेगा? ओह, नेरूदा' के बाल यीसु, आदमी की मुक्ति की राह का कोई अन्त नहीं है। लेकिन आखिरकार आदमी जागा है।

सात कदम वह, सात कदम लौटते। एक दीवार से मिला हुआ लकड़ी का एक ओठा^१ जिसे तोड़ा भी जा सकता है, और दूसरी दीवार से लगकर एक मनहूस भूरे रंग की आलमारी जिस पर मट्टी का कटोरा रक्खा है। हाँ, मैं वह सब जानता हूँ। अब कैदखाने में बिजली से काम होता है, सारी जेल की कोठरियाँ एक जगह से गरम की जाती हैं। पुरानी बाल्टी की जगह अब फ्लश की टट्टी है। लोग भी मशीन की तरह के हो गये हैं।



खासकर लोग - बिल्कुल चाभी से चलने वाले पुतलों की तरह। एक बटन दबाइये और एक चाभी ताले में आवाज के संग घूमने लगती है या कोठरी के भीतर झाँकने के लिए बना हुआ चोर सुराख खुलता है- और कैदी (वह कुछ भी कर रहे हों) कूद कर अटेंशन की हालत में खड़े हो जाते हैं, एक के पीछे एक। दरवाजा खुलते ही कोठरी के सबसे वयस्क आदमी को एक साँस में चिल्लाना पड़ता है, 'अटेंशन! कोठरी नम्बर दो सौ सड़सठ में तीन कैदी- सब ठीक है।'

नम्बर दो सौ सड़सठ हमारी कोठरी है, लेकिन पुतले आज ठीक से उठ-गिर नहीं रहे हैं। सिर्फ दो उछल पाते हैं। मैं खिड़की के नीचे अपने पुआल के गद्दे पर बिना हिले-डुले पड़ा रहता हूँ- मैं एक हफ्ता, दो हफ्ते, एक महीना छः हफ्ते से मुँह के बल लेटा हूँ। मेरा पुनर्जन्म हो रहा है। अब मैं सिर घुमा सकता हूँ, हाथ उठा सकता हूँ। मैंने कुहनी के सहारे अपने शरीर को उठा लिया है; पीठ के बल लेट जाने की कोशिश भी की है। इतना जरूर है कि अब मैं पहले से तेज लिख सकता हूँ।

कोठरी में परिवर्तन हुए हैं। दरवाजे पर तीन नामों की जगह अब सिर्फ दो नाम हैं क्योंकि कारेक गायब हो गया है, उन दोनों में से वह कम उम्र वाला जो मेरी मौत पर सर्द गाने गाता था। अपने पीछे वह अपने रहम खानेवाले दिल की याद भर छोड़ गया है। मैं उसे सिर्फ अधर्नीदी-सी हालत में धुँधला-धुँधला देख पाता हूँ और मुझे उसके संग के सिर्फ आखिरी दो दिन याद हैं। वह बार-बार अपने मुकदमे की तफसील दोहराता और मैं हर

बार उसकी कहानी के बीच में ही सो जाता।

उसका नाम कारेक मलेत्ज़ है ; वह हुडलिट्ज़ के पास कहीं किसी लोहे की खान में गाड़ियों के चढ़ाने-उतारने के खटोले में कारीगर का काम करता था। वह इंकलाबी लड़ाई को गोला-बारूद पहुँचाया करता था। उसे करीब दो साल हुए पकड़ा गया था और अब शायद बर्लिन में उस पर मुकदमा चल रहा है। दल का दल जा रहा है। और पता नहीं उन्हें क्या सजा मिलेगी। उसके बीवी है और दो बच्चे, जिन्हें वह प्यार करता है, बहुत प्यार करता है-लेकिन.... आप ही सोचिए न, वह तो मेरा फर्ज़ था, मैं और कुछ कर भी तो नहीं सकता था।

वह अकसर मेरे ओठ पर बैठता और मुझे खाना खिलाने की कोशिश करता। मैं खा न पाता। सनीचर को- क्या मुझे यहाँ आये आठ दिन हो गये ? - वह अपनी आखिरी चाल चलता है और पुलिस-मास्टर से मेरी रिपोर्ट करता है कि जबसे मैं यहाँ आया हूँ मैंने कुछ नहीं खाया है। पुलिस-मास्टर, नात्सी सिपाही की वर्दी पहने हरदम परेशान रहने वाला वह पांक्राट्स का अर्दली जिसके हुक्म के बिना चेक डाक्टर किसी मरीज़ को ऐस्पिरिन भी नहीं दे सकता- एक मग्गे में अस्पतालवाला शोरबा लाता है और मेरे सिर पर खड़ा रहता है जब तक कि मैं उसे गले के नीचे उतार नहीं लेता। कारेक अपनी ज़ोर-ज़बर्दस्ती की इस सफलता पर बहुत खुश है और दूसरे दिन वह खुद एक मग्गा इतवारी शोरबा मेरे गले के नीचे उतार देता है।

लेकिन उससे ज़्यादा मैं नहीं ले सकता। हमको इतवार के रोज़ जो गूलाश मिलता है उसके ज़रूरत से ज़्यादा उबले हुए आलू भी मेरे छिले हुए मसूढ़ों से नहीं चाबे जाते; मेरा सूजा हुआ गला छोटी-सी चीज़ निगलने में भी असमर्थ है।

‘गूलाश भी नहीं, इन्हें गूलाश भी नहीं चाहिए,’ कारेक शिकायत के लहज़े में कहता है और मुझ पर अफसोस जाहिर करते हुए अपना सिर हिलाता है।

फिर ‘पापा’ के संग बराबर का हिस्सा लगाकर वह मेरा आधा खाना चट कर जाता है।

ओह, तुम लोग जो सन् 42 में पांक्राट्स में नहीं रहे, क्या जानो कि गूलाश का स्वाद कैसा होता है। कभी जान भी नहीं सकते! उन बदतरीन दिनों में, जब हमारे पेट भूख के मारे गुड़गुड़ाते थे, जब कि हफ्ते में एक दिन स्नान के रोज़ फव्वारे के नीचे बैठी हुई शकलें ठठरियों के समान लगतीं जिन पर आदमी की खाल मढ़ दी गयी हो, जब कि तुम्हारा गहरा-सा-गहरा दोस्त कम-से-कम अपनी निगाहों से तो तुम्हारा खाना चुराता ही था-उन बदतरीन दिनों में सुखायी हुई तरकारियों और पानी मिली हुई टमाटर की चटनी से तैयार शोरबा भी हमारे नजदीक एक पकवान था। उन बदतरीन दिनों में जेल का अफसर हफ्ते में दो रोज़, वृहस्पत और इतवार को, हमारे कठोरे में एक बड़ा चम्मच भर आलू निकालकर डाल देता और उस पर एक चम्मच गूलाश का शोरबा टपका देता और गोश्त के दो-एक टुकड़े। हमें उसका स्वाद अद्भुत लगता- मगर स्वाद से ज़्यादा उसका मूल्य हमारे

नजदीक इसलिए था कि वह इंसान की ज़िन्दगी की याद दिलाने वाली एक चीज़ थी, एक ऐसी चीज़ जिसमें सभ्यता है, जो गेस्टापो के कैदखाने की ज़िन्दगी की क्रूरताओं के बीच आदमी की मामूली औसत ज़िन्दगी की एक चीज़ थी। हम उसके बारे में बात करते वक्त अपने को जैसे भूल-सा जाते। ओह; कौन समझ सकता है कि आदमी की निगाह में एक अच्छे शोरबे की कीमत कितनी ज़्यादा हो सकती है- जब रोज़ मरने का खौफ उसमें गरम मसाले का काम करता हो।

दो महीना गुज़र जाने पर मेरी समझ में भी आया कि मैं जब गूलाश खाने से इनकार कर देता था तो कारेक इतना घबड़ा क्यों जाता था। मेरी आसन्न मृत्यु का इस बात से अधिक अच्छा प्रमाण क्या हो सकता था कि अब मुझे गूलाश खाने की इच्छा भी नहीं होती थी।

उसके दूसरे दिन की रात को दो बजे उन्होंने कारेक को जगाया। उसे पाँच मिनट में तैयार हो जाना था चल देने के लिए, मानों वह सिर्फ़ ज़रा सी देर के लिए कहीं घूमने जा रहा हो, न कि जीवन के अन्त तक के सफ़र पर, दूसरे जेल, कंसंट्रेशन कैंप, फ़ॉसी, कौन जाने कहाँ? उसे मेरे ओठे के पास आकर झुकने, मेरा सिर अपनी बाँहों में समेटने और चूमने में वक्त लगा। तभी सायबान में, वर्दी पहने हुए सिपाही की घाव करने वाली आवाज़ सुनायी दी कि पांक्राट्स में भावुकता के लिए कोई जगह नहीं है। कारेक दौड़कर दरवाजे से बाहर हो गया, ताला फिर झटपट भर दिया गया... और कोठरी में हम लोग दो ही रह गये।

क्या हम फिर कभी मिलेंगे, दोस्त? अब किसकी बारी है? हम दोनों में से कौन पहले जायेगा? कहाँ? उसे लेने कौन आयेगा? एस.एस. की वर्दी पहने सिपाही- या मौत, जो कोई वर्दी नहीं पहनती?

इस वक्त जब मैं लिख रहा हूँ मेरे दिमाग में वे विचार गूँज रहे हैं जो जेल में पहली विदा के संग मुझ पर बुरी तरह छा गये थे। तब से एक साल गुज़र गया है और वे विचार जो हमारे उस साथी को दरवाजे तक छोड़ने गये थे, कम या ज़्यादा तेजी के साथ कई बार दोहराये जा चुके हैं। हमारी कोठरी के दरवाजे पर दो की जगह तीन नाम हुए और फिर दो ही रह गये- फिर तीन दो, तीन दो- जैसे-जैसे नये कैदी आते और हमें छोड़कर चले जाते। सिर्फ़ हम दो जो कोठरी नम्बर 267 में रह गये, अब भी पूरी ईमानदारी के संग उसमें बैठे हुए हैं : ‘पापा’ और मैं।

‘पापा’ कहीं पढ़ाते थे; उनकी साठ साल की उम्र है और उनका नाम जोसेफ़ पेशेक है- गिरफ्तार मास्ट्रो में वे ही सबसे बड़े हैं। वह मुझसे पचासी रोज़ पहले पकड़े गये थे क्योंकि वह ‘जर्मन राइख के खिलाफ़ षड्यन्त्र’ रच रहे थे और वह षड्यन्त्र क्या था? यही कि वह एक योजना तैयार कर रहे थे कि चेकोस्लोवाकिया के फिर आज़ाद होने पर चेक स्कूलों को कैसे और उन्नत बनाया जायेगा।

‘पापा’...

लेकिन सब तुम कैसे लिख सकते हो, मेरे दोस्त? एक कोठरी में साल भर तक साथ रहने वाले दो आदमियों के बारे में लिखना हँसी-खेल नहीं है। इस बीच उनके नाम 'पापा' के कोटेशन-चिन्ह उड़ गये, और दो अलग-अलग उग्रों के कैदी सचमुच बाप-बेटे हो गये। इस दौरान में हम दोनों ने एक दूसरे की बातचीत से वह फिकरे अपना लिये जो हमें अच्छे लगे, चेहरे के वह खास इशारे और यहाँ तक कि आवाज़ का लहजा। अब यह बताना मुश्किल है कि उस कोठरी में क्या चीज उनकी है क्या मेरी, अपने साथ वह क्या लाये थे और अपने साथ मैं क्या लाया था।

वह रात की रात मेरे पास बैठे रहते और अपनी सफेद गीली पट्टियों से मौत को, जब भी वह पास आती, मार भगाते। वह मेरे घाव की पीप साफ करते लेकिन उन्होंने कभी यह जाहिर नहीं होने दिया कि उसकी भयानक बदबू का, जिससे मेरा ओठा भारी रहता, उन पर कोई असर है। वह मेरी चीथड़ानुमा कमीज धोते, सुधारते और जब वह ऐसी तार-तार हो जाती कि उसे और सुधारना मुमकिन न होता तो अपनी कमीज मुझे पहना देते। वह मेरे लिए एक छोटा-सा डेज़ी का फूल और घास की चंद दूबें लाये जिनको उन्होंने एक सुबह कसरत वाले आध घण्टे में जेल के आँगन से अपनी जान पर खेलकर तोड़ा था। हर बार वे लोग मुझे 'पेशी' के लिए ले जाते तो 'पापा' की सहानुभूतिशील आँखें कोठरी के बाहर तक मुझे पहुँचाने आतीं और जब मैं लौटता तो वे बड़ी नरमी से गीली पट्टियाँ मेरे नये घावों पर लगाते। कभी रात को जब वे लोग मुझे ले जाते तो पापा तब तक न सोते जब तक कि मैं वापस न आ जाता और वे मुझे मेरे ओठे पर लिटाकर कंबल ठीक से मेरे नीचे दबा न देते।

उस पहली रात की यातनाओं के बाद इस तरह हमारा सम्बन्ध शुरू हुआ और उसमें कभी कोई खोट नहीं आयी यहाँ तक कि मैं अपने पैरों पर खड़ा होने लगा और अपने पैतृक ऋण को चुकाने लगा।

लेकिन दोस्त, तुम एक बैठक में वे तमाम बातें नहीं लिख सकते। उस साल कोठरी नम्बर 267 की ज़िन्दगी बहुत मालामाल रही और पापा अपने ढंग पर उसके जर्न-जर्न में समाये रहे। लेकिन वह कहानी अभी खत्म नहीं हुई है- और इसी में आशा की किरण है।

कोठरी नम्बर 267 की ज़िन्दगी सचमुच बहुत मालामाल थी। कभी-कभी दरवाज़ा खुलता और घंटे-घंटे पर हम लोगों का मुआयना होता। इसकी वजह यह थी कि उन्हें हुक्म मिला था कि अपने कम्युनिस्ट कैदी पर और कड़ी निगरानी रखो, लेकिन इतना ही नहीं, इसके पीछे सामान्य कुतूहल का भाव भी थोड़ा-बहुत था। यहाँ पर लोग अकसर मर जाते जब कि किसी को उनके मरने का गुमान भी न होता, लेकिन ऐसा कम ही होता था कि वह आदमी, जिसके मरने की सब लोग राह देख रहे हों, जिये जा रहा हो। दूसरे गलियारों से संतरी आते और ज़ोर-ज़ोर से आपस में बातें करते हुए या खामोशी से मेरा कंबल उठाते, विशेषज्ञों की तरह मेरे घावों को समझते और फिर अपनी

प्रकृति के अनुसार या तो कोई तकलीफदेह मज़ाक करते या ज़रा दोस्ताने का लहजा अख्तियार करते। उनमें से एक जिसे हम लोग स्मार्टी कहते हैं, औरों से ज़्यादा आता है और बहुत मुस्कुराकर पूछता है कि 'उस कम्युनिस्ट शैतान' को कुछ चाहिए तो नहीं। जी नहीं, शुक्रिया। कुछ दिनों बाद स्मार्टी को पता चलता है कि कम्युनिस्ट शैतान को अब सचमुच कुछ चाहिए-एक शेव। लिहाज़ा वह हज्जाम को बुला लाता है।

हज्जाम ही हमारी कोठरी के बाहर का वह पहला कैदी है जिससे हमारी मुलाकात हुई-कामरेड बोशेक। मगर स्मार्टी की भलमंसी बहुत बेरहम साबित हुई। पापा मेरा सिर पकड़ते हैं और बोशेक मेरे ओठे पर झुक कर एक बहुत कुन्द उस्तरे से उस घनी दाढ़ी को काट चलता है, जैसे जंगल साफ कर रहा हो। उसके हाथ काँपते हैं और आँखें भर आती हैं, क्योंकि उसे इस बात का पूरा यकीन है कि वह एक लाश की दाढ़ी बना रहा है। मैं उसे ढाढ़स बँधाता हूँ।

'हिम्मत से काम लो दोस्त। जब मैं पेचेक बिल्डिंग की उन यातनाओं को सह ले गया तो तुम्हारा दाढ़ी बनाना भी सह ही लूँगा।'

लेकिन हम दोनों इतने कमज़ोर हैं कि हमें रुककर सुस्ताना पड़ता है, उसे और मुझे। दो दिन बाद और दो कैदियों से मेरी मुलाकात हुई। पेचेक बिल्डिंग के कमीसार लोग अधीर हो गये हैं। हर रोज़ जब वह मुझे बुला भेजते, पुलिस मास्टर पुर्जे पर लिख देता 'बाहर नहीं भेजा जा सकता।' तब उन्होंने हुक्म दिया कि कुछ भी हो, उसे भेजो। ट्रस्टियों की पोशाक पहने दो कैदी स्ट्रेचर लिए हमारी कोठरी के सामने आकर खड़े हुए। पापा ने बड़ी-बड़ी मुश्किलों से मुझे कुछ कपड़े पहनाये, ट्रस्टियों ने मुझे स्ट्रेचर पर लिटाया और ले चले। उनमें से एक कामरेड स्कोरेपा है, सारी बारक का खूब खयाल रखने वाला। दूसरा है, जिसने उस वक्त जब कि मैं जीने पर स्ट्रेचर के ढलवाँ होने से फिसलने लगा था, मुझ पर झुक कर कहा-मजबूती से जमे रहो, और फिर धीरे-से बुदबुदाया- दोनों ही अर्थों में, जमे रहो।

इस बार हम लोग पहली मुलाकातवाले कमरे में नहीं रुके। वे मुझे एक बड़े हॉल में ले गये जिसमें आदमी भरे हुए थे। बृहस्पत का दिन है, जब घर के लोग अपने कैदियों के लिए साफ़ कपड़े लाते हैं और उनके गंदे कपड़े धुलने के लिए ले जाते हैं। वे हमारे उस उदास जुलूस को हमदर्दों की निगाहों से देखते हैं, पर मुझे वह कुछ अच्छी नहीं लगती। मैं अपना हाथ उठा कर सिर तक ले जाता हूँ और मुट्ठी बाँधता हूँ। शायद वे लोग समझ जायें कि यह मैं सलाम कर रहा हूँ, मगर पता नहीं, शायद यह कुछ नहीं सिर्फ़ बेवकूफी का एक इशारा हो। लेकिन इससे ज़्यादा की, एक शब्द भी बोलने की, ताकत मुझ में नहीं है।

जेल के खुले सहन में उन्होंने स्ट्रेचर ट्रक में रख दिया। दो नात्सी सिपाही ड्राइवर के संग बैठे, दो मेरे सिर पर खड़े हुए, उनके हाथ उनके रिवाल्वर की खुली थैलियों पर थे, और हम रवाना हुए। सड़क की हालत बहुत खराब है। पहिये एक गड्ढे

से उछलकर दूसरे गड्ढे में पहुँच जाते हैं, और हम लोग मुश्किल से दो सौ गज़ गये होंगे कि मैं बेहोश हो गया। प्राग की सड़कों पर हमारा इस तरह चलना बहुत दिल्लगी से भरा हुआ है- पाँच टन का एक ट्रक जो तीस कैदी ले जाने के लिए काफी है, एक के लिए पेट्रोल जलाता है। दो नात्सी सिपाही सामने और दो पीछे और गिद्धों जैसी उनकी भूखी आँखें एक लाश पर पहरा देती हुई, इस डर से कि कहीं वह उनके पंजों से निकल न भागे।

मेरी बेहोशी की हालत में तो पेशी हो ही नहीं सकती थी, इसलिए वे मुझे पांक्राट्स ले आये। यही प्रहसन दूसरे रोज़ दुहराया गया, इस बार इतना जरूर हुआ कि पेचेक बिल्डिंग पहुँचने तक मैं होश में रहा। कमीसार फ्रीड्रिक ने जरा लापरवाही से मेरा शरीर छुआ नहीं कि मैं बेहोश हो गया और उन्हें बेहोशी की हालत में ही मुझको वापस ले आना पड़ा।

फिर ऐसे दिन आये जब मुझे इस बात का शक न रहा कि मैं अब भी ज़िन्दा हूँ। पीड़ा-ज़िन्दगी की वह जुड़वाँ बहन - मुझे लगातार बड़े निर्दय ढंग से उसकी याद दिलाती रही। सारे पांक्राट्स को पता चल गया कि किसी भूल-चूक के कारण मैं अब भी ज़िन्दा हूँ और वे मुझे अपनी शुभकामनाएँ भेजने लगे- मोटी-मोटी दीवारों पर खट्-खट की आवाजों और खाना लानेवाले ट्रस्टियों की निगाहों के ज़रिये।

सिर्फ मेरी बीवी को मेरे बारे में कुछ नहीं मालूम था। मुझसे एक मंजिल नीचे और कुछ नम्बर आगे वह अकेली एक कोठरी में आशाओं और चिन्ताओं के बीच दिन काट रही थी, जब पड़ोस की कोठरी की एक औरत ने कसरत के वक्त उसे बताया कि मैं मर गया, पहली यातना में मुझे जो घाव लगे थे, उन्हीं से मेरी मौत हो गयी। यह इतना बड़ा धक्का था कि वह पागल की तरह जेल के उस आँगन के इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगी और उसे वह घूँसा भी पता नहीं चला जो स्त्री-संतरी ने उसे उन गिरती-पड़ती, जीती-मरती, पैर घसीटती आकृतियों की कतार में वापस ठेलने के लिए मुँह पर मारा था। वे आकृतियाँ यानी जेल की ज़िन्दगी। उसकी उन बड़ी-बड़ी कोमल आँखों के सामने क्या दृश्य गुज़रे होंगे जब वह तमाम दिन अपनी कोठरी की दीवारों को ताकती बैठी होगी, दिल ऐसा चूर-चूर कि आँसू भी न निकलते होंगे ! दूसरे दिन उसने दूसरी अफवाह सुनी कि मेरी जान यातनाओं के कारण नहीं निकली बल्कि दर्द से बचने के लिए मैंने कोठरी में अपने आप को फाँसी लगा ली।

पूरे वक्त मैं उस घिनावने मनहूस ओठे पर ऐंठता और करवटें बदलता पड़ा रहा और हर शाम दीवार की तरफ मुँह कर लेता और चाहता कि अपनी गुस्तिना को वह गाना गाकर सुनाऊँ जो उसे सबसे ज़्यादा पसन्द है। वह मुझे सुन क्यों नहीं पाती, जब कि मैं इतनी गहरी अनुभूति से गाता हूँ?

वह आज जानती है, वह आज उस गाने को सुन सकती है-बावजूद इसके कि अब वह पहले से भी ज़्यादा दूर चली गयी है। अब सन्तरी इस बात के आदी हो गये हैं कि कोठरी नम्बर

267 में गाना होता है और अब वह मुझको शान्त करने के लिए दरवाज़ा नहीं पीटते।

कोठरी नम्बर 267 गाती है। मैंने तमाम ज़िन्दगी गाना गाया है और कोई वजह नहीं देखता कि अब आखिरी वक्त गाना बन्द कर दूँ, उस वक्त जब कि इंसान सबसे ज़्यादा गहराई से, सबसे उत्कट रूप में जीता है। और पापा पेशेक का क्या हाल है ? उनकी तो बात ही अलग है। उनको गाने से बहुत ही ज़्यादा प्यार है। उनके पास गला नहीं है, संगीत के खयाल से उनके कान भी कुछ बहुत अच्छे नहीं हैं, न उनकी स्मरणशक्ति ही ठीक है, लेकिन गाने से उन्हें बड़ा हार्दिक प्रेम है। उन्हें गाने में इतना आनन्द आता है कि मुझे पता ही नहीं चलता कब वह बेसुरे हो जाते हैं और फिर बेसुरा ही गाये जाते हैं। और न उन्हें ही इसकी फिक्र रहती है। और इस तरह दिन अच्छा होने पर या जब इच्छाएँ मन पर हावी हो जाती हैं, तब हम लोग गाते हैं। हम एक जाते हुए कामरेड का, जिसे हम फिर शायद कभी न देखें, साथ देने के लिए गाते हैं। हम पूरबी (रूस के-अनुवादक) मोर्चे से अच्छी खबर आने पर उसका स्वागत करने के लिए गाते हैं। हम खुशी के मारे या अपने दिल की तसकीन के लिए गाते हैं जैसे कि लोग सदियों से गाते आ रहे हैं और तब तक गाते रहेंगे जब तक कि वह इंसान हैं।

गाने के बगैर कोई ज़िन्दगी नहीं जैसे सूरज के बगैर कोई ज़िन्दगी नहीं। और यहाँ पर तो हमें गाने की दुगुनी जरूरत पड़ती है क्योंकि सूरज हम तक नहीं पहुँचता। कोठरी नम्बर 267 का मुँह उत्तर को है, इसलिए सिर्फ गर्मी के महीनों में, डूबता हुआ सूरज कुछ मिनटों के लिए हमारी कोठरी की पूरबी दीवार पर खिड़की के जँगले की जाली बुन जाता है। उन कुछ मिनटों में पापा अपने मोड़े हुए ओठे के सहारे झुककर खड़े-खड़े सूरज की उस ज़रा सी देर की आमद को एकटक ताका करते हैं... उससे ज़्यादा दुखी और उदास कोई दृश्य नहीं हो सकता।

सूरज ! कितनी उदारता से वह अपनी जादूभरी किरणें फेंकता है, आदमी की आँखों के सामने वह क्या-क्या जादू करता है! लेकिन कितने थोड़े से लोगों को ज़िन्दगी में सूरज की रोशनी मिलती है। एक दिन, हाँ एक दिन वह हम सभी लोगों को रोशनी देगा और हम सभी उसकी नर्म-नर्म किरणों में नहायेंगे। यह बात जानकर कितनी खुशी होती है। लेकिन अभी मैं उससे कहीं छोटी एक बात जानना चाहता हूँ - क्या वह कभी हम दोनों को रोशनी देगा ?

हमारी कोठरी उत्तर को है। कभी ही कभी जब कि गर्मी का बड़ा भाग्यशाली दिन हो, हम सूरज को डूबता हुआ देखते हैं। ओह पापा, मेरी कितनी लालसा है कि मैं एक बार और सूरज को उगता हुआ देखूँ।

...क्रमशः जारी

1. जान नैरूदा, चेकोस्लोवाकिया का कवि।
2. कैदी के सोने के लिए।

कुहरे में ढंका हुआ मानवेतिहास

■ मुक्तिबोध

वैज्ञानिक बताते हैं कि वानरों से मनुष्य का विकास हुआ। आज से लाखों साल पहले की यह घटना है। मनुष्य ने अपनी पशु-तुल्य अवस्था से क्रमशः ऊपर उठते हुए, किस प्रकार अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया, यह एक मनोरंजक विषय है। पुरातत्वविदों के अनुसन्धान और सतत प्रयत्न के द्वारा तत्कालीन मानव-जीवन और उसके इतिहास की जो रूपरेखा स्पष्ट होती है, उसका संक्षिप्त परिचय यहां दिया गया है।

आज से लगभग दस हजार साल पहले हमारा भारतवर्ष घने-घने जंगलों से ढंका हुआ था। उन दिनों दलदल भी खूब रहे होंगे। नदियों की तलहटियां बहुत गहरी और चौड़ी रही होंगी। उन जंगलों, नदियों और दलदलों के तटों पर तरह-तरह के भयानक पशु अपनी शिकार में घूमते होंगे। इन महाकान्तारों में, मानव-जीवन बहुत ही संकटपूर्ण रहा होगा।

मानव-सभ्यता के विकास-प्रसार के साथ-साथ, ये जंगल कटते चले गये। किन्तु, इस बात के पूरे प्रमाण हैं कि बलूचिस्तान, अफगानिस्तान, राजस्थान और अन्य पश्चिमोत्तर प्रदेश भी, जो आज सूखे, वीरान और वृक्षहीन हैं, उन दिनों घने आदिम जंगलों से ढंके थे।

इस प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थिति में, आदिम मानव-जातियाँ और उनके कबीले जीवन-निर्वाह के लिए कन्द-मूल-फल बटोरते या ऐसे पशु-पक्षियों की शिकार के पीछे फिरते जिनका नरम मांस वे खा सकते थे। मनुष्य, मूलतः शाकाहारी प्राणी है। अग्नि के आविष्कार को अभी देर थी, जिसकी सहायता से वे मांस भूनकर खा सकते थे। खाद्य समस्या हमेशा बनी रहती। आदिम मानव, जंगली पशुओं से बहुत डरता था। भय और क्षुधा स्थायी भाव थे। वर्षा, गरमी और सरदी से बचने का कोई उपाय न था। या तो वह गुहा-कन्दरा में रहता या कभी मिट्टी के अनगढ़ घरों में। उसके पास जीवन-रक्षा के कोई प्रभावकारी उपाय न थे।

उसके पास सिर्फ पत्थरों के औज़ार थे। वे भद्दे, खुरदुरे और मोटे हुआ करते। पत्थरों को तोड़ताड़कर वह उन्हें खास ढंग से नुकीला बनाता। कभी उन्हें रगड़-रगड़कर पैना कर देता। पत्थर के भद्दे कुलहाड़े, मुद्गर या ऐसे ही उसके अस्त्र होते। लकड़ी के भाले भी होते। कुछ अस्त्रों में हड्डी या लकड़ी के बेंट लगे होते। वह पैने पत्थरों को फेंककर मारता होगा। फेंककर मारने के उसने साधन बना लिये होंगे, जैसे गुलेल या भोंड़े ढंग के धनुष-बाण।

उसके औज़ार हमें, भारत के दक्षिणी और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों के अतिरिक्त हमारे मध्यप्रदेश में भी मिले हैं। वे होशंगाबाद के निकट नर्मदा की घाटी में और जबलपुर जिले में प्राप्त होते हैं।

इस युग को पुरा-पाषाण-काल या प्राचीन-प्रस्तर-युग कहते हैं। यह युग दो-ढाई लाख (वर्ष) तक चला होगा। कम से (कम) वह आज से दस-बारह हजार (साल) पहले तक मौजूद था।

पुरातत्वशास्त्री भारत में फैले हुए उस आदिम मानव-जाति को 'नेग्रिटो' कहते हैं। ये लोग दक्षिण अफ्रीका से लेकर तो भारतवर्ष में और उसके आगे पूर्व-दक्षिण के देशों में भी फैले हुए थे। उनकी कुछ अवशिष्ट जातियाँ हमारे यहाँ अभी भी पायी जाती हैं। अन्दमान-निकोबार में, तथा आसाम के पर्वतीय क्षेत्रों में कुछ आदिवासी जातियाँ तथा त्रावणकोर-कोचीन की पहाड़ियों में टोड़ा जाति पुरा-पाषाण-काल की उत्तराधिकारिणी मानी जाती है।

मानव-सभ्यता और संस्कृति को इन जातियों ने भी कुछ दिया है, मुख्यतः खाद्य के क्षेत्र में। कौन-सी वनस्पति खाने योग्य है और कौन-सी खाने से मनुष्य मर जाता है, इसका निर्णय इन लोगों ने अपने अनुभवों द्वारा किया। जंगल-जंगल घूमकर तरह-तरह के कन्द-मूल-फल-फूल खाकर उन्हें खाद्य और अखाद्य का भेद मालूम हो सका।

नव-पाषाण-काल

प्रयत्न और अनुभव, तथा उससे प्राप्त ज्ञान और ज्ञान का प्रयोग करके पुनः प्रयत्न और अनुभव का यह जो सिलसिला है उससे मनुष्य जाति ने अपना विकास किया तथा परिस्थिति पर विजय पाने के साधनों का निर्माण किया। मनुष्य और पशु में एक बड़ा भेद यह है कि हम बुद्धि का प्रयोग करके अस्त्रों का निर्माण और विकास करते आये हैं। पुरा-पाषाणकालीन मानव के अनुभवों से लाभ उठाकर नव-पाषाण-कालीन मानव ने अपने प्रस्तर-अस्त्रों को घिसघिसकर ज़्यादा चिकना और चमकदार, सुघड़ और प्रभावकारी बनाया। पत्थर की किस्मों का ज्ञान अब बढ़ चुका था। उसे मालूम हो गया था कि चकमक-पत्थर के टुकड़ों को आपस में रगड़ने से चिनगारियाँ निकलती हैं। सूखे पत्तों पर उन्हें गिराकर आग तैयार की गयी। यह बहुत बड़ा आविष्कार था। अग्नि द्वारा (अ) अँधेरे में प्रकाश मिलता है, (ब) अच्छी गरमी मिलती है, (स) ज्वालाओं से भयभीत होकर पशु

भाग जाते हैं, (ड) मांस को भूनकर खाया जा सकता है, जिससे दाँतों को तकलीफ से बचाया जा सकता है। अग्नि के आविष्कार से मनुष्य ने इस तरह एक साथ कई बातें प्राप्त कर लीं। ईरानी और भारतीय आर्य यदि अग्नि को देवता समझें और उसकी प्रशंसा में स्तोत्र और गीत पढ़ें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!! मनुष्य ने प्रकृति-विजय की ओर एक कदम बढ़ा दिया। इसके सम्बन्ध में दो बातें समझने की हैं। एक तो यह कि मुख्यतः शाकाहारी प्राणी होने के कारण, तरह-तरह के मांस को मनुष्य नहीं खा सकता था। भूनकर खाने की सहूलियत से, खाद्य-समस्या को हल करने का एक उपाय निकल आया। दूसरे, अग्नि-प्रयोग के दीर्घकाल में उसने देखा कि कई तरह कि मिट्टियों या पत्थरों में से कोई वस्तु पिघलकर धातु बन जाती है। अग्नि के बिना, धातु का अनुसन्धान नहीं हो सकता था। आदि-मानव जाति के मनुष्यों ने पाया कि धातु के अस्त्र प्रस्तर अस्त्रों से अधिक पैसे, सुघड़ और प्रभावकारी बनाये जा सकते हैं, साथ ही उन्हें चाहे जैसा आकार दिया जा सकता है। इस प्रकार, अग्नि प्रयोग ने अनुसन्धान के मार्ग को तथा साधन-निर्माण के पथ को प्रशस्त किया। कुछ अंशों तक, मनुष्य को भय और क्षुधा से त्राण पाने की युक्ति मिल गयी। इसलिए मानवेतिहास में, अग्नि के आविष्कार का बहुत महत्व है।

नव-प्रस्तरयुगीन मानव क्रमशः उन्नति करता जा रहा था। वनस्पतियों के अनुभव-ज्ञान के साथ ही, पशु-पक्षियों-सम्बन्धी उसका ज्ञान भी बढ़ गया था। इस ज्ञान का प्रयोग करके उसने पशुओं को बाँधकर रखना, उनसे दूध निकालकर पीना, और फिर समय-समय पर उनका वध करके मांस खाना आदि बातें शुरू कीं और फिर उन्हें सतत प्रयोग और अनुभव से सीख लीं। तब तक उसके पत्थर के औजार भी काफी पैसे और तीखे बन चुके थे। पशुपालन ने मानव-जीवन में एक बड़ा परिवर्तन उपस्थित कर दिया। अब उसे पशु-पक्षियों के पीछे जंगल-जंगल भटकने की जरूरत नहीं रही। वह कुछ हद तक स्थायी जीवन बिता सकता था, पशुओं का मांस प्राप्त होने से खाद्य समस्या और कम हो गयी। उधर कन्द-मूल-फल एकत्र करने वाले उसके साथियों ने, अपने सतत निरीक्षण और अनुभव-ज्ञान के फलस्वरूप, ज़मीन में बीज डालकर पौधे उगाने की प्रक्रिया खोज ली- एक बीज से हज़ारों बीज उग सकते थे, यह ज्ञान बड़े काम का सिद्ध हुआ। खेती-बाड़ी का प्रारम्भिक रूप सामने आया। सम्भवतः सबसे पहले जंगली घास में से दानों वाले घास छांटकर उन्हें (गेहूँ और जौ को) उगाना उसने सीखा। फसल होने लगी। खाद्य-पदार्थों की खोज में रोज-रोज भटकते रहने की जरूरत नहीं रही। इसलिए, मिट्टी के घर और उनके समूह अर्थात् बस्ती या गाँव बनाकर वह रहने लगा और, साथ ही, वस्तुओं तथा खाद्य-पदार्थों को जमा करके रखने के लिए उसे बरतनों की तलाश हुई। शीघ्र ही, उसने मिट्टी के बरतन बनाये। उधर,

अग्नि-प्रयोग के द्वारा उसने कच्ची मिट्टी के बरतन और ईंटें पकाना सीख लिया था; और साथ ही धातु की प्राथमिक पहचान और थोड़ी-बहुत जानकारी भी उसे हो गयी थी। उन लोगों में का एक दल ऐसी ज़मीनों और पत्थरों की खोज में रहने लगा जिनसे धातुएँ प्राप्त हो सकें। इस खोज के दौरान उसे सुन्दर-सुन्दर रंग-बिरंगे चमकदार पत्थर मिले, जिसके उसने आभूषण बनाये और जिनको पीस-पीसकर उसने लेप तैयार किये। इस लेप को वह मिट्टी के बरतनों के अन्दर और बाहर लगाता, और उन पर कभी-कभी चित्रकारी भी करता।

उधर, पशुपालन का विकास हो ही रहा था। मनुष्य अब उन पर सवारी करने लगा। उन पर वह बोझ भी लादता। इस प्रकार, दूरी की समस्या भी कुछ हल हुई, साथ ही भार-वहन की भी। धातु के थोड़े बहुत औज़ार जब बन गये तो उसने लकड़ी को काट-काटकर चक्का बनाना सीखा। चक्कों से मामूली किस्म की बैलगाड़ी बनायी, जिससे रफ्तार में तेज़ी आ गयी। कुम्हार ने भी चक्के को अपनाया, जिसकी सहायता के फलस्वरूप मिट्टी के बरतन अब और भी सुडौल होने लगे। मिट्टी की कला-मृदृशिल्प-का विकास होने लगा। अब वह, पुरुष, स्त्री, बालक, पशु, पक्षी, देवी-देवता की आकृतियाँ तथा मूर्तियाँ भी बनाने लगा। नव-पाषाण-युग के अन्तिम चरणों में, मुख्यतः पाषाण-अस्त्र थे, किन्तु, धात्वस्त्रों का प्रयोग शुरू हो गया था। उसके ये पाषाण अस्त्र, जो तरह-तरह के काम में आते थे, विन्ध्याचल की पहाड़ियों में, जैसे रीवा, छोटा नागपुर, मिर्ज़ापुर और इसके अलावा आसाम में पाये जाते हैं। दक्षिण भारत के मद्रास, चिंगलपत तथा अन्य स्थानों में भी खूब मिलते हैं। बेलारी के समीप तो इनका एक कारखाना ही मिला है। पुरातत्वविद् इन्हें प्रोटो आस्ट्रेलॉइड अर्थात्, 'आदि आग्नेयाभ' कहते हैं। यह जाति अफ्रीका और भारत से लेकर आस्ट्रेलिया तक पाई जाती है। भारत में आज इन आदि आग्नेयाभों के उत्तराधिकारी हैं-मध्यप्रदेश की आदिवासी जातियाँ, जो मुण्डा-भाषा-परिवार की विभिन्न बोलियाँ बोलती हैं। इनके अलावा, कोल, सन्थाल, भील भी इनके वंशज हैं। मध्य भारत के पहाड़ी इलाकों में भील पाये जाते हैं।

प्रकृति को अधिकाधिक अनुकूल करने के दौरान में, मानव-अन्तःकरण का भी प्रसार होता है। वह जीवन और जगत् के सम्बन्ध में विचार भी करने लगता है। उन दिनों प्रकृति के रूपों और दृश्यों के प्रति मनुष्य के अन्तःकरण में दो ही भावनाएँ थीं-विस्मय और भय। वह प्राकृतिक शक्तियों को देखकर चमत्कृत हो उठता था। उसे प्रतीत हुआ कि प्रकृति की शक्तियों में कोई देवताओं का निवास है। अर्थात् जगत् में अति-प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। विस्मय और भय की भावनाओं से प्रेरित होकर वह देवी-देवताओं और भूत-प्रेतों की कल्पना करने लगा। वह प्रकृति के रूपों को देवता मानकर पूजता, जैसे नदी, वृक्ष, पत्थर इत्यादि को। वह खेतों में, उर्वरा शक्ति को प्रसन्न करने के लिए, पशु-बलि भी देता और कभी नर-बलि भी।

प्रजनन-शक्ति को दैवी मानता। उसका विश्वास था कि मृत्यु के बाद भी आत्मा मरती नहीं, वह भटकती रहती है। इसलिए, वह अन्त्येष्टि संस्कार में, शव को गाड़ने के साथ ही, उस शव के पास अस्त्र और अनाज दोनों को रख देता, जिससे मृत्यु के उपरान्त की यात्रा में, वे मृतात्मा के काम में आ सकें। विशेष उत्सवों पर नृत्य-गान भी होते। उसने तरह-तरह के वाद्य-यन्त्र भी बना लिये थे।

प्रकृति के निरीक्षण-परीक्षण के फलस्वरूप, उसकी कलाभिरुचि भी बढ़ गयी थी। उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर के निकट तथा मध्यप्रदेश में होशंगाबाद के निकट, गुहाओं में उसने आखेट और नृत्य के सुन्दर चित्र भी बनाये, जो गेरू से खींचे गये प्रतीत होते हैं।

नव-पाषाणयुगीन मानव, अपने सफल प्रयत्नों द्वारा, मनुष्य-जाति को असभ्यावस्था से खींचकर सभ्यता के किनारे तक ले आया। प्रारम्भिक कलाएँ-उपयोगी कलाएँ और ललित कलाएँ, दोनों-उसी का आविष्कार हैं। मानव-प्रगति के रास्ते पर पड़ने वाले बहुत बड़े विघ्नों और बाधाओं को उसने पार किया। आगे का रास्ता अब ज़्यादा आसान था। अग्नि का आविष्कार, पशुपालन, खेती-बाड़ी प्रारम्भिक ऋतु-ज्ञान, प्रारम्भिक वनस्पति-विज्ञान, मृदू-शिल्प, उसी की देन हैं। इसके अतिरिक्त, उसने देश के विभिन्न स्थानों में जाने के लिए गन्तव्य मार्ग खोज निकाले। आज भी हमारे धर्म में, भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास, और वृक्ष-पूजा प्राकृतिक शक्तियों की पूजा आदि के अतिरिक्त, आत्मा की अमरता में विश्वास इन्हीं की कृपा का फल है। नव-पाषाणकालीन मानव ने हमें अपनी भाषा के कुछ शब्द भी दिये। रूई, बेंगन, केला, कुम्हड़, पान, हाथी, टट्टू, मोर, चिड़िया आदि के जो पर्याय संस्कृत भाषा में हैं वे मुण्डा बोलियों से निकले हैं। मुण्डा भाषा के 'जोम' शब्द से 'जीमना' (भोजन करना) निकला। प्राचीन भारतीय साहित्य में आदि अग्नियाभ जातियों को नाग तथा निषाद कहा जाता रहा। एक ज़माने में ये जातियाँ सारे भारतवर्ष में फैली हुई थीं। सभ्य जातियों के आक्रमण के फलस्वरूप ये जातियाँ भागकर पहाड़ों और जंगलों में छिप गयीं, सभ्यता के सम्पर्क से दूर रहने के कारण वे और भी पिछड़ गयीं। आज केन्द्रीय सरकार तथा मध्यप्रदेश सरकार उनकी उन्नति के लिए बहुत कुछ कर रही है।

धातु-युग का आरम्भ

नव-पाषाण युग के अन्तिम चरणों में धातु के आविष्कार के साथ-साथ धात्वस्त्र भी बनने लगे। पहले ताँबे को खोजकर निकाला गया, बाद में लोहे को। इसीलिए, साधारणतः धातु-युग

दो भागों में बाँटा जाता है। एक ताम्र युग और उसके अनन्तर लौह युग। किन्तु, दक्षिण भारत में पाषाण युग के बाद, एकदम लौह युग आया। दक्षिण भारत में ताँबे के औज़ार मिलते ही नहीं, जब कि उत्तर भारत में क्रमशः पाषाण युग, ताम्र युग और लौह युग अवतरित हुआ। दक्षिण भारत का विकास-क्रम, निःसन्देह उत्तर भारत के विकास-क्रम से भिन्न रहा है। यद्यपि हमारे यहाँ कांस्य-युग नहीं आया, जैसे कि पृथ्वी के अन्य भागों में था, फिर भी, काँसे की वस्तुएँ हमारे यहाँ बनती थीं। किन्तु उसका ज़्यादा चलन नहीं था।

भारतवर्ष में प्राथमिक सभ्यता का प्रभात, पश्चिमोत्तर प्रदेश में हुआ। ताम्र युग की सभ्यता के अवशेष हमें बलूचिस्तान और सिन्धु में मिलते हैं। सिन्धु सभ्यता, जिसका जिक्र आगे होगा, ताम्र युग की ही सभ्यता है। लोहे के औज़ार, ऋग्वेद काल में, अर्थात् आज से ढाई-तीन हज़ार साल पहले, भारतवर्ष में खूब प्रचलित हो गये थे। तब से आज तक लौह युग ही चल रहा है। प्रश्न यह है कि मनुष्य जाति के साधनों और उपादानों के आधार पर, हम मानवेतिहास का अध्ययन क्यों करते हैं?

मनुष्य जाति, प्रकृति की शक्तियों पर विजय के लिए और उन शक्तियों को अपने उपयोग में लाने के लिए, साधनों का निर्माण करती है। जिस प्रकार, विज्ञान के विकास ने और उसके द्वारा निर्माण किये गये भाप-इंजन, स्टीम-बोट, बिजली आदि साधनों ने दुनिया को मध्य युग के अन्धकार से खींचकर आधुनिक युग में लाकर खड़ा कर दिया, और समाज-रचना को भी बदल डाला, उसी प्रकार नव-पाषाणयुगीन मानव ने मनुष्य को असभ्यावस्था से निकालकर, सभ्यता के किनारे खड़ा कर दिया। उसने भी उतनी ही बड़ी क्रान्ति की थी जितनी कि आधुनिक विज्ञान ने की। यह क्रान्ति साधनों के विकास द्वारा हुई। साधनों ने मनुष्य-जीविका की प्रणाली को बदल डाला। नई अर्थ-व्यवस्था सामने आयी। यह अर्थ-व्यवस्था, पशुपालन और खेतीबाड़ी और कारीगरी के आधार पर उठ खड़ी हुई। आगे की सभ्यताओं ने इनका खूब विकास किया। संक्षेप में, साधनों का विकास मानव-सभ्यता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इसीलिए, आज भारत में प्रधानमन्त्री पण्डित नेहरू के नेतृत्व में, देश का व्यापक औद्योगिकरण हो रहा है-लोहे-इस्पात तथा भारी मशीन-निर्माण के कारखानों के अलावा, अणु-विद्युत के कारखाने और अणु-अनुसन्धान केन्द्र खुल रहे हैं।

साभार : मुक्तिबोध रचनावली (भाग 6)

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए